



डायरी के फैसले

डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

Diary

डायरी के डायरी

(गद्य का इतिहास)

मूल्य : ₹ 140/-

संस्करण : 2014

ISBN : 978-93-82908-10-4

DAIRY KE FAISLE

by Dr. Anand Prakash Tripathi 'Ratnesh'

पुलकित प्रकाशन

बाणवालों का दरवाजा, चौड़ा रास्ता, जयपुर (राजस्थान)

मुद्रक : शीतल ऑफसेट प्रिण्टर्स, जयपुर

प्रस्तु

आधुनिक हिन्दी साहित्य में घटना के रूप में देखा जाता है। दैनिक का ही उपयोग करता रहा है फिर भी मिल पाया जो पद्य को मिला, इसका पद्य को लोग सरलता से कंठस्थ कर आनन्द की अनुभूति होती है, वहीं दूसरे है तथा उसे पढ़ने में कोई सुखात्मक को बौद्धिकता का युग माना जाता है यह बौद्धिकता दिन दूनी रात चौगुन अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा हुआ। आधुनिक युग की विषय बहुत प्रतिदिन गद्य साहित्य के निर्माण परिणामस्वरूप पूरा का पूरा युग ही युग में काव्य रचना भी हुई फिर कुछ साहित्यकारों ने इस युग को

गद्य की अनेक लोकप्रिय लघु कहानी, बाल कहानी, नाटक रिपोर्ताज, संस्मरण, आत्मकथा, की इन विधाओं में कहानी को जाता है। आज भी कहानी को हैं। दैनिक समाचार पत्रों के रविव



आचार्य तुलसी
एवं
अणुव्रत आन्दोलन

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

प्रकाशक

मैसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा.) लि.

79, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003

फोन : 0141-2311466, 2313382 फैक्स : 0141-4013697

email : uni_bookhouse@yahoo.com

आई.एस.बी.एन. : 978-81-8198-322-0

प्रथम संस्करण : 2015

© प्रकाशक

लेजर टाइपसेटिंग एवं मुद्रक

पैरामाउन्ट ग्राफिक्स एवं वी.आर. प्रिण्टर्स, जयपुर।

All right reserved. No part of this work may be copied, adapted, abridged or translated, stored in any retrieval system, computer system, photographic or other system or transmitted in any form by any means whether electronic, mechanical, digital, optical, photographic or otherwise without a prior written permission of the copyright holders. M/s University Book House (P) Ltd., Jaipur.

This book is sold subject to the condition that it, or any part of it, shall not by way of trade or otherwise, be sold, re-sold, displaying, advertised, or otherwise circulated, without the publisher's prior written consent, in any form of binding, cover or title other than that in which it is published and without a similar condition including this condition being imposed on the subsequent purchaser(s).

Any breach of any of these rights or conditions will entail civil and criminal action without further notice.

While every effort has been made to avoid any mistake or omission, this publication is being sold on the condition and understanding that neither the author nor the publishers or printers would be liable in any manner to any person by reason of any mistake or omission in this publication or for any action taken or omitted to be taken on advice rendered or accepted on the basis of this work.

Rights of Publication reserved with the Publishers.

आचार्य तुलसी बीसवीं है कि होनहार बिरवान के हो दिखने लगते हैं। आचार्य श्री की गलियों में खेलते हुए जब पर 11 वर्ष की अवस्था में जैन मात्र 22 वर्ष की अवस्था में क्षमता एवं सामर्थ्य को अभिव्यक्त का पोषण एवं विस्तारण उनका अग्रणी रहते थे किन्तु केंदल भी कुछ नया करना चाहते रखता है। आचार्य तुलसी पुर नये भारत के निर्माण का आजादी के साथ असली आ संघर्ष कर रही जनता को अ

“असली आजादी

मिली तुम्हें जो यह

आगे कदम बढ़ाओ

असली आजादी अ

देश को असली आजा



अभिषाप्त देवता

आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

अभिशाप्त देवता

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

औन विश्वभारती संस्थान

(मानव विश्वविद्यालय), लाडनू (राज.)

पंकज पब्लिकेशन्स, जयपुर

प्रकाशक
पंकज पब्लिकेशन्स
249, चीड़ा रास्ता, जयपुर

आई.एस.बी.एन.
978-93-83248-26-1

संस्करण
2017

मूल्य
150.00 रुपये

मुद्रक
शीतल ऑफसेट प्रिण्टर्स, जयपुर

Abhishapt Devta by Prof. Anand Prakash Tripathi 'Ratnesh'
*Published by: Pankaj Publications, 249, Chaura Rasta, Jaipur
(Rajasthan-India)*

सामाजिक चिन्तन के स्वरूप



डा. विजेन्द्र प्रधान
प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

इस पुस्तक को किसी भी अंश को किसी भी रूप में प्रतिकृति करना या किसी भी माध्यम-इलेक्ट्रॉनिक, यंत्रिक या अन्य प्रकार, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग या सूचना संवहन और पुनः प्रेषित पद्धति - द्वारा प्रसारित करना लेखकगण/प्रकाशक को लिखित अनुमति के बिना मना है।

हिमांशु पब्लिकेशन्स

464, हिरण मगरी, सेक्टर 11

उदयपुर 313 002 (राज.)

फोन: 0294-5106166, 5106163

Web : himanshupublications.com

email : himanshupublications@gmail.com



4379/4-B, प्रकाश हाऊस

अंमारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2

फोन: 011-32551698, 23255920

ISBN : 978-81-7906-653-9

संस्करण : 2017

मूल्य : 495.00/-

-वितरक-

आर्य बुक सेन्टर

हॉस्पिटल रोड, उदयपुर (राजस्थान) ☎ : 0294 2526160

e-mail : aryabook@gmail.com

भूमिका

व्यक्ति और समाज में कौन अधिक महत्व विद्वानों एवं मनीषियों द्वारा समय-समय पर व्यक्ति को महत्त्व देता देखा गया है तो क महत्त्व देता है। यह मूल्यांकन प्रायः उपयोग जिस किसी की दृष्टि के केंद्र में भगवान शंकराचार्य, विवेकानन्द, महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति ही सबकुछ है क्योंकि इन महापुरुषों आधार पर समाज में बदलाव लाने में सफल व्यक्ति पहाड़ तोड़ नहीं सकता किन्तु इन लगे बड़े कार्य अकेले दम पर करके दिखाया है किन्तु समाजशास्त्रियों के अनुसार केंद्र चाहिए। एक व्यक्ति में बदलाव आना महत्त्व समाज में आना चाहिए।

प्लेटो, अरस्तू जैसे महान चिंतक समाज की अवधारणा निश्चित करते हैं। अरस्तू महत्त्वपूर्ण है कि समाज से परे व्यक्ति या राक्षस। मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी ही है नहीं कर सकता। समाज में वह पैदा होता है।



शीला-दर्शनि

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

गीता - दर्शन

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

एम.ए. (दर्शन, इतिहास) पीएच.डी.
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाहूर-341306



यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा) लि.
जयपुर

गी
ति
ते
के
गे
के
ते
गे
र
स
ग
र

ने
ति
र
ग
वृ
हे
ग
ग
न
ग
।
में
।
गे
ते
गे
र

प्रकाशक:
यूनिवर्सिटी बुक हाऊस (प्रा.) लि.
79, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003
फोन: (0141) 2311466, 2313382 फैक्स: 4013697
ई-मेल: uni_bookhouse@yahoo.com
आई.एस.बी.एन : 978-81-8198-454-8

प्रथम संस्करण : 2017

टाईप सेटिंग व मुद्रक
नेहा ग्राफिक एवं थोमसन प्रिन्टर्स, नोयडा

All rights reserved. No part of this work may be copied, adapted, abridged or translated, stored in any retrieval system, computer system, photographic or other system or transmitted in any form by any means whether electronic, mechanical, digital, optical, photographic or otherwise without a prior written permission of the copyright holders M/s University Book House (P) Ltd., Jaipur.

This book is sold subject to the condition that it, or any part of it, shall not by way of trade or otherwise, be sold, re-sold, displayed, advertised, or otherwise circulated, without the publisher's prior written consent, in any form of binding, cover of title other than that in which it is published and without a similar condition including this condition being imposed on the subsequent purchaser (s).

Any breach of any of these rights or conditions will entail civil and criminal action without further notice.

While every effort has been made to avoid any mistake or omission, this publication is being sold on the condition and understanding that neither the author nor the publishers or printers would be liable in any manner to any person by reason of any mistake or omission in this publication or for any action taken or omitted to be taken on advice rendered or accepted on the basis of this work.

Rights of Publication reserved with the Publishers.

जीवन एक युद्ध
आन्तरिक दुराहयों, क्रोध, न
अधिकारों एवं सम्पत्तियों के
आफिस में अपने वजूद को
है। अतः जीवन युद्ध नहीं
युद्ध लड़ने पड़ते हैं। इन्हीं
विपत्तियों, आपदाओं से प्र
सही मायने में वही पुरुष
हैं और जीते भी जाते हैं।
उनकी औकात दिखाना,
यह कृत्य कायरों का है।
खोजना कायरता है मन
काम है। वीर तो हर परि
खरे निकलते हैं।

भगवान् महावीर
अन्दर के शत्रुओं से ल
विकृतियों एवं दुष्प्रवृत्तियों
तिलक ने कहा था कि
करते थे कि 'अन्याय व
जीवन में अन्याय का वि
कि अधर्म, अनीति को स
भी यही संदेश है। भग
दिया है। जब शक्ति के
पर पाँच गाँव की मांग
युद्धेन केशव' अर्थात् हे
पाँच गाँव तो दूर की ब
बांधने की कोशिश युद्ध
अनीति को बढ़ावा देना
पाँचों पाण्डवों तो माने
हैं कि गीता कालजयी
हिंसा प्रधान ग्रन्थ है।



बालकथा संसार

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'



बालकथा संसार

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाहौरी (राज.)

पुलकित प्रकाशन, जयपुर

आई.एस.बी.एन.
978-93-82908-21-0

प्रकाशक
पुलकित प्रकाशन
बाणवालों का दरवाजा
चौड़ा रास्ता, जयपुर

संस्करण
2018

मूल्य
रु. 180/-

मुद्रक
शीतल ऑफसेट प्रिण्टर्स, जयपुर

Balkatha Sansar by Anandprakash Tripathi 'Ratnesh'
Published by M/s Pulkit Prakashan
Baanwalon Ka Darwaza, Chaura Rasta, Jaipur (Raj.) India



अध्यात्म निर्झर

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

अध्यात्म निर्झर

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय),
लाहूर



यूनिर्सिटी बुक हाउस (प्रा.) लि.

जयपुर

प्रकाशक

मेसर्स यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा.) लि.

79, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302 003

फोन : 0141-2311466, 2313382, 4013697

email : uni_bookhouse@yahoo.com

आई.एस.बी.एन. : 987-81-8198-370-1

संस्करण : 2018

© प्रकाशक

लेजर टाइपसेटिंग एवं मुद्रण

ट्राइसेंट इंटरप्राइजेस, दिल्ली

All right reserved. No part of this work may be copied, adapted, abridged or translated, stored in any retrieval system, computer system, photographic or other system or transmitted in any form by any means whether electronic, mechanical, digital, optical, photographic or otherwise without a prior written permission of the copyright holders. M's University Book House Pvt. Ltd. Jaipur

This book is sold subject to the condition that it, or any part of it, shall not by way of trade or otherwise, be sold, re-sold, displaying, advertised, or otherwise circulated, without the publisher's prior written consent, in any form of binding, cover or title other than that in which it is published and without a similar condition including this condition being imposed on the subsequent purchaser(s).

Any breach of any of these rights or conditions will entail civil and criminal action without further notice.

While every effort has been made to avoid any mistake or omission, this publication is being sold on the condition and understanding that neither the author nor the publishers or printers would be liable in any manner to any person by reason of any mistake or omission in this publication or for any action taken or omitted to be taken on advice rendered or accepted on the basis of this work.

Rights of Publication reserved with the Publishers.

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-2



अंक-6



त्रैमासिक



अप्रैल-जून, 2014

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
1.	अनुवाद : आवश्यकता एवं उपयोगिता	प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र	06-13
2.	तीर्त्कर परिक्रमा	समणी डॉ. सत्यप्रता	14-21
3.	बौद्धदर्शन में प्रतिपादित दुःख	प्रो. विजय कुमार जैन	22-27
4.	अणुव्रत आंदोलन और अहिंसा	डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	28-30
5.	हिंदी का स्वरूप-व्यापार्य और चुनौतियाँ	शम्भुनाथ तिवारी	31-36
6.	आधुनिक युग में योग का महत्व	डॉ. तुशार कान्त शास्त्री	37-38
7.	सीखने की विधि : अभिक्रमित-अनुदेशन	डॉ. बी.एल. जैन	39-41
8.	तरौहा अम्बिका प्रतिमा : एक अभिलेख	डॉ. आशीष कुमार दुबे	42-44
9.	किराताजुनीयम् में प्राचीन भारतीय राजतन्त्र	कृष्ण चन्द पण्डा	45-47
10.	Human right in 21 st century : An over view	Dr. Ajay Vardhan Acharya	48-57
	पुस्तक समीक्षा	तृप्ति त्रिपाठी	58

अणुव्रत आंदोलन और अहिंसा

डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

अणुव्रत की प्राचीनता— अणुव्रत शब्द अर्वाचीन न होकर बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर, जो जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे ने गृहस्थों एवं साधुओं (श्रमणों) के आपार में अंतर करते हुए अणुव्रत और महाव्रत का विधान किया था। तत्त्वार्थ सूत्र में अणुव्रत और महाव्रत के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है- 'देश सर्वतोऽणुमहती' अर्थात् अणुव्रत देशिक या आंशिक है और महाव्रत सार्वभौमिक है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य गृहस्थों के लिए भी हैं और श्रमणों के लिए भी। दोनों में अंतर यह है कि श्रमणों के लिए इन व्रतों में किसी भी देश, काल, परिस्थिति एवं परिवेश की छूट नहीं है और श्रावकों अर्थात् गृहस्थों के लिए आवश्यक छूट है किन्तु अनावश्यक छूट यहाँ भी नहीं है। यहाँ भी अहिंसा अणुव्रत का विधान है। अहिंसा अणुव्रत भी एक प्रकार का व्रत है जिसमें अनावश्यक हिंसा न करने की प्रेरणा निहित है। गृहस्थों को तो आवश्यक हिंसा करनी ही पड़ती है जैसे कृषक खेती करेगा तो हिंसा होगी ही, माली बगिया की देखरेख करेगा तो हिंसा होगी ही किन्तु उन्हें भी अनावश्यक हिंसा की छूट नहीं है।

अणुव्रत आंदोलन और अहिंसा— तात्पर्य यह है कि अहिंसा का अणुव्रत से सम्बन्ध अतिप्राचीन है। इसी अणुव्रत की आवश्यकता को देखते हुए तथा इसके माध्यम से राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के लिए आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात आजादी के तुरन्त बाद किया था। उनका मानना था कि देश की गुलामी के पीछे मुख्य कारण राष्ट्रीय चरित्र का अभाव ही था। यदि दौलत खां लोदी, आम्मी, जयचंद, मीरजाफर, अमीचंद जैसे लोगों का राष्ट्रीय चरित्र होता तो क्या हमारा देश कभी गुलाम होता? अतः आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात कर अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण के साथ अहिंसक समाज संरचना की संकल्पना की थी। वे प्रायः कहा करते थे कि समस्त समस्याओं का कारण हिंसा है। समस्या है तो समाधान ढूँढना होगा। हिंसा समस्या का समाधान हिंसा से नहीं हो सकता क्योंकि कहा भी गया है- 'रक्तेन दूषितं वस्त्रं न ही रक्तेन शुद्ध्यति' अर्थात् खून से सना हुआ वस्त्र कभी खून से साफ नहीं हो सकता। अतः हिंसात्मक

समस्याओं का समाधान अहिंसा से ही संभव है। जब अहिंसक व्यक्तित्व और अहिंसक समाज का निर्माण हो जायेगा तो समस्याओं का स्वतः अकाल ही जायेगा। अतः प्रारंभ से ही अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य अहिंसा रहा है। अणुव्रत आंदोलन का लक्ष्य अहिंसक समाज संरचना था तो साधन हृदय परिवर्तन था। अर्थात् साधन के रूप में भी अहिंसा का अणुव्रत आंदोलन से सम्बन्ध था। कार्लमार्क्स या मैकिवावली की यह भावना कभी भी अणुव्रत आंदोलन से नहीं जुड़ी थी कि अपने स्वयं की प्राप्ति के लिए किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है। अणुव्रत आंदोलन का हार्दिक यही था कि साध्य की पवित्रता के लिए साधन की पवित्रता अनिवार्य है। अणुव्रत आंदोलन में तोड़ फोड़ एवं हिंसात्मक कार्यवाही की कोई सृष्टि नहीं है।

अणुव्रत की आचार संहिता और अहिंसा— वर्तमान में अणुव्रत आंदोलन की आचार संहिता में प्रथम तीन सूत्र तो सीधे हिंसा न करने एवं अहिंसा को बढ़ावा देने के लिए प्रेरित करते हैं। प्रथम सूत्र है कि हम किसी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करेंगे। यह सूत्र हमें बड़े प्राणियों मनुष्य आदि की हिंसा ही नहीं अपितु छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की भी हिंसा न करने की प्रेरणा देता है। दूसरा सूत्र है कि हम किसी पर आक्रमण नहीं करेंगे। किसी व्यक्ति या देश पर आक्रमण करने का मतलब हिंसा को बढ़ावा देना है। इस प्रकार का संकल्प हिंसा पर अवरोध लगाता है। तीसरा सूत्र है कि हम तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेंगे। तोड़फोड़ मूलक प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, इन पर अंकुश लगाने से हिंसा सीमित होगी। आचार संहिता के अन्य सूत्र भी प्रकारान्तर से अहिंसात्मक भाव को ही पुष्टि करते हैं जैसे- हम मानवीय एकता में विश्वास रखेंगे, हम धार्मिक सहिष्णुता रखेंगे आदि सूत्र भी अहिंसा को बढ़ावा देते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अणुव्रत आंदोलन की आचार संहिता अहिंसामय है। इसी प्रकार शिक्षकों, छात्रों, व्यापारियों, प्रत्याशियों की आचार संहिता भी अहिंसा से ओतप्रोत है।

अणुव्रत आंदोलन का उद्घोष एवं अहिंसा— अणुव्रत आंदोलन का मूल उद्घोष है- 'संयमः खलु जीवनम्' अर्थात् संयम ही जीवन है। संयम शब्द अपने आप में बहुत

बड़ा शब्द है जिसका अर्थ होता है अपने आवेगों, उद्वेगों, संवेगों का नियंत्रण कर हर परिस्थिति में सम रहना। संयम में न कोई चाह है, न वाह है और न आह है। जहाँ चाह है, वहीं वाह और आह है। चाह अर्थात् इच्छा की पूर्ति होने पर वाह अर्थात् प्रसन्नता स्वाभाविक है और पूर्ति न होने पर आह अर्थात् दुःख भी स्वाभाविक है। अतः यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'संयम' और अहिंसा अलग-अलग नहीं हैं। बिना अहिंसा के संयम का पालन संभव हो नहीं सकता। अन्य उद्घोष 'निज पर शासन फिर अनुशासन, इंसान पहले इंसान फिर हिन्दू या मुसलमान, सादा जीवन उच्च विचार, मानव जीवन का शृंगार' भी अहिंसा के दर्शन को चरितार्थ करते हैं। सुप्रसिद्ध चिंतक एवं विचारक प्रो. राय अश्वनीकुमार ने लिखा है- "अणुव्रत के दार्शनिक भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है कि आज का युग नैतिक समस्याओं का युग है। कुछ विकासशील गरीब देशों में अर्थ विषयक अनैतिकता चल रही है। कुछ विकसित देशों में चारित्र्य विषयक अनैतिकता चल रही है। समाज विषयक अनैतिकता मानवीय कृपा के रूप में अविकसित और विकसित दोनों देशों में चलती है। राजनीतिक विषयक अनैतिकता की भी यही स्थिति है। यह बहुरूपी अनैतिकता मानवीय दृष्टिकोण या आध्यात्मिक समानता की अनुभूति होने पर मिट सकती है। इस प्रकार के दृष्टिकोण के विकास के लिए 'संयम' आवश्यक है। (अणुव्रत के आयाम की भूमिका से)

अणुव्रत आंदोलन के कार्यक्रम और अहिंसा— अणुव्रत आंदोलन का सैद्धान्तिक स्वरूप ही अहिंसात्मक नहीं है अपितु इसका व्यावहारिक स्वरूप भी अहिंसात्मक है। अणुव्रत आंदोलन के मंच से जब-जब किसी की बुराई का विरोध किया गया तो उस विरोध का स्वरूप अहिंसात्मक ही रहा। अणुव्रत आंदोलन के मंच से समय-समय पर नशामुक्ति आंदोलन, रुढ़ि उन्मूलन, पर्दाप्रथा का विरोध, चुनाव शुद्धि अभियान, जनजागरण अभियान, मिलावट विरोधी अभियान चलाये गये किन्तु सारे अभियान एवं आंदोलन अहिंसात्मक ही रहे। अणुव्रत के कार्यकर्ताओं को समय-समय पर अहिंसा का प्रशिक्षण भी दिया जाता रहा है ताकि वे अपने-अपने क्षेत्र में शांति से कार्य कर सकें।

देश में प्रायः जहाँ भी साम्प्रदायिक दंगे हुए वहाँ अणुव्रत के कार्यकर्ताओं ने शांति के लिए अहिंसात्मक पहल भी किये।

अणुव्रत गीत और अहिंसा— अणुव्रत आंदोलन को जन-जन तक पहुँचाने में अणुव्रत गीतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन अणुव्रत गीतों ने भी अहिंसा को भरपूर बढ़ावा मिला है। अणुव्रत गीत की निम्न पंक्ति अहिंसा के भाव को परिपुष्ट करती है—

“वैत्री भाव हमारा सबसे प्रतिदिन बढ़ता जाए,
समता, सहअस्तित्व, समन्वय नीति सफलता पाए,
शुद्ध साध्य के लिए नियोजित मात्र शुद्ध साधन हो।”

उपर्युक्त पंक्ति के एक-एक शब्द अहिंसा के स्वर का गुंजाने वाला हैं। इसी प्रकार दूसरे गीत में भी अहिंसा के भाव को देखा जा सकता है—

“मानवीय-मूल्यों की रक्षा अणुव्रत का आशय है।
अध्यात्मिकता, प्रामाणिकता उसका अमल हृदय है।
हिंसा के इस गहन तिमिर में अणुव्रत एक उजारा।”

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अणुव्रत गीतों में भी अहिंसा को बढ़ावा दिया गया है।

अहिंसा समवाय और अहिंसा— अणुव्रत आंदोलन का सबसे नवीन कार्यक्रम अहिंसा समवाय है। दूसरे अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अहिंसक शक्तियों को एकजुट करने का बीड़ा उठाया है। उन्होंने ‘अहिंसा समवाय’ की अवधारणा को जन्म देकर यह अभिलाषा भी व्यक्त की है कि सभी अहिंसक शक्तियाँ एकजुट होकर कार्य करें तो लक्ष्य हासिल करना कठिन नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अहिंसा समवाय के अन्तर्गत अहिंसा प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया है। आचार्यश्री ने एक इंगित पर हजारों लोगों को अहिंसा का प्रशिक्षण दिया जा चुका है। आचार्यश्री की दृष्टि के अनुरूप अणुव्रत शिक्षक संसद ने अहिंसा प्रशिक्षण का जिम्मा लिया है और अनेक शिविरों के माध्यम से विद्यार्थी, श्रमिकों, शिक्षकों, ग्रामीणों, कैदियों को

अहिंसा का प्रशिक्षण दिया। अहिंसा समवाय और अहिंसा प्रशिक्षण का कार्यक्रम पूरे देश में अणुव्रत समितियों एवं अणुव्रत शिक्षक संसद के माध्यम से चल रहा है। यह अति प्रासंगिक एवं अति उपयोगी कार्यक्रम है।

अतः यह कहना असंगतपूर्ण नहीं होगा कि अणुव्रत आंदोलन के प्रारंभ से लेकर आज तक अणुव्रत आंदोलन और अहिंसा का चोली दामन का सम्बन्ध रहा है। अणुव्रत आंदोलन ने समय-समय पर अनेक उत्तार-चढ़ाव एवं झंझावत झेले हैं किन्तु कभी भी अहिंसा का दामन नहीं छोड़ा। यह कहना भी उपयुक्त होगा कि अगर आज अणुव्रत आंदोलन जीवित है, न केवल जीवित है अपितु दिन-प्रतिदिन विकास कर रहा है तो इसका कारण है अहिंसा। अस्तु यह कहना सार्थक होगा कि अणुव्रत आंदोलन की बुनियाद ही अहिंसा पर टिकी हुई है और इसकी सफलता में अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ सूची —

1. अणुव्रत के आलोक में आचार्य तुलसी-आदर्श साहित्य संघ, चूरु
2. अणुव्रत गति-प्रभाति-आचार्य तुलसी- आदर्श साहित्य संघ, चूरु
3. अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी- आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
4. अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठभूमि-आचार्य महाप्रज्ञ-आदर्श साहित्य संघ, चूरु
5. अणुव्रत के आयाम- डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, अणुव्रत शिक्षक संसद, राजसमन्द

निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनू-341306 (राज.)

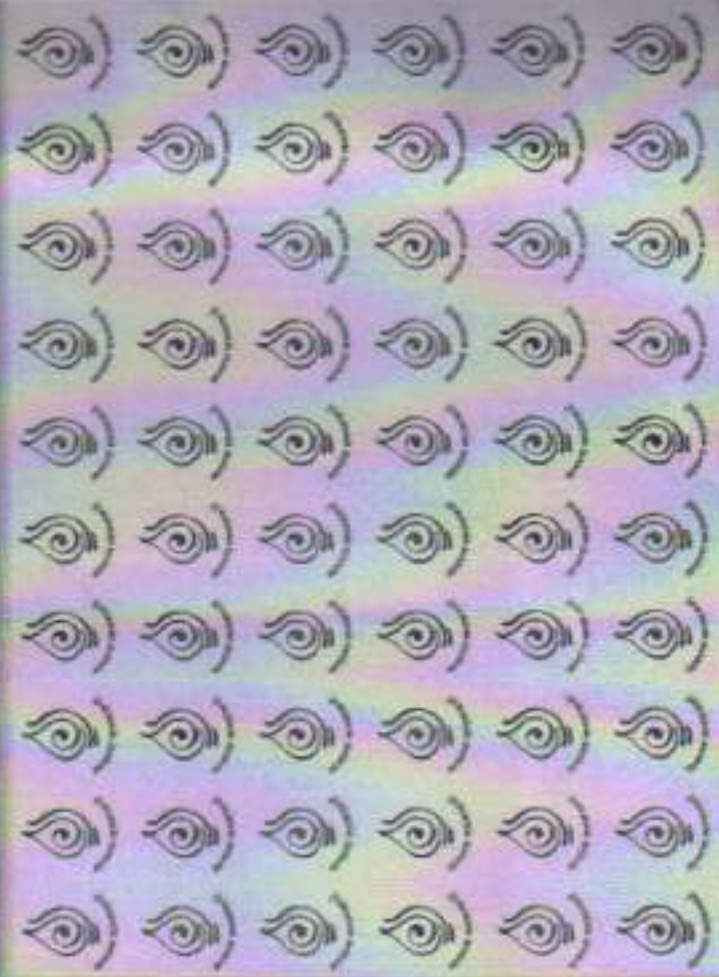


तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 41 • अंक 162-163 • अप्रैल-दिसम्बर, 2014

A Peer Reviewed Research Half Yearly



जैन विश्वभारती संस्थान

लाहर्न - 341 306 (राजस्थान) भारत

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE

Laharn - 341 306, Rajasthan, India



जैन विश्वभारती संस्थान, लाहर्न प्रकाशन सूची

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक/लेखिका	पृष्ठ
1.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	30
2.	आचार्य चरित्र के अन्वय	शुभर्य महाप्रज्ञा	300
3.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	305
4.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	306
5.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	307
6.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	308
7.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	309
8.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	310
9.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	311
10.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	312
11.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	313
12.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	314
13.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	315
14.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	316
15.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	317
16.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	318
17.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	319
18.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	320
19.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	321
20.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	322
21.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	323
22.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	324
23.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	325
24.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	326
25.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	327
26.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	328
27.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	329
28.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	330
29.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	331
30.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	332
31.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	333
32.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	334
33.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	335
34.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	336
35.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	337
36.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	338
37.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	339
38.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	340
39.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	341
40.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	342
41.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	343
42.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	344
43.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	345
44.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	346
45.	आचार्य बुद्धदेव के चरित्र	शुभर्य महाप्रज्ञा	347

प्रकाशन - प्रकाशक - डॉ. अशोक शर्मा जी के निदेशानुसार संस्थान
लाहर्न के जैन विश्वभारती एंड फिलॉसॉफी अकादमी द्वारा, लाहर्न, राजस्थान

तुलसी प्रज्ञा ISSN 0974-8857

TULSI PRAJÑĀ

A Peer Reviewed Research Half Yearly of Jain Vishva Bharati Institute

YEAR-41

VOL.-162-163

APRIL-DECEMBER, 2014

अनुक्रमणिका / CONTENTS

ENGLISH SECTION

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	7-12
Understanding Spirituality And Science	Prof. S.R. Bhatt	13-26
14 <i>Dhārās</i> (Sequences and Sub-sequences) of <i>Trilokasāra</i> of Nemicandra (10 th C CE) [1]	R.S. Shah	27-45
Managing Obesity in Adolescent School Children Through Yoga-Preksha Meditation	Chander Ramesh , Bala, Raj , Mishra Jpn	46-53
Relative Economics-A Paradigm of Transformation in System	Dr. Samani Rohini pragya	54-60
Applied Jain Non-violence: Meditation as a Remedial Approach	Dr Samani Shashi Prajñā	61-66
Countering the Stress in Children	Dr. Rashmi Dhar	67-74
<i>Gāruda Upaniṣad</i> : Mythology and Philosophy	Bidisha Choudhury	75-84
Ācārya Tulsī, Ājñānats and Social Work	Pratap Chandra Behera	85-90

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृ. संख्या
गीता दर्शन में त्याग की अवधारणा	डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	91-97
उत्तराख्यका सूत्र में मानवीय मूल्य : एक विमर्श	डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा	98-105
उपनिषदों में अहिंसा के स्वर	डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा	106-111
गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	112-118
अद्वैत एवं बौद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. योगेश कुमार जैन	119-128
संस्कृतकाव्यशास्त्र एवं प्राकृतकाव्यसाहित्य	डा. सुमन कुमार झा	129-138
आचार्य तुलसी का स्वस्थ समाज संरचना में योगदान	डॉ. सुनीता इन्दोरिया	139-144

गीता दर्शन में त्याग की अवधारणा

— डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

संतों, ऋषियों, महर्षियों की यह भारतभूमि अनादिकाल से त्याग की भूमि रही है, ऐसा कहना कोई अतिरंजनापूर्ण कथन नहीं होगा। इस भूमि में ही भगवान राम अयोध्या का राज्य त्यागकर वन को गये थे, पाँचों पाण्डव अपने इन्द्रप्रस्थ राज्य को त्यागकर पाँचों भाइयों के लिए पाँच गांव लेने तक तैयार हो गये थे, राजा दिलीप गाय की रक्षा के लिए अपना शरीर तक त्याग रहे थे, सत्य की रक्षा के लिए राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सर्वस्व त्याग दिया था, पक्षी की रक्षा के लिए राजा शिवि ने अपने तक को दांव पर लगा दिया था, नचिकेता पिता के वचन की पूर्ति हेतु सर्वस्व त्यागकर यमराज के पास चला गया था। ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो त्याग की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। त्याग एक धर्म है। इस धर्म का पालन यही कर सकता है जो इहलोक एवं परलोक के विषय-विकारों को जीत लेता है। जिसमें अनाशक्त चेतना का विकास होता है वही त्याग धर्म का पालन कर सकता है। जैन दर्शन में त्याग को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः' अर्थात् व्युत्सर्ग ही त्याग है। राजवार्तिक में तो यहाँ तक कहा गया है— परिग्रहस्य चेतना चेतन लक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते'। अर्थात् चेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन में त्याग को अचित संसाधनों तक ही नहीं अपितु चित तत्त्वों को भी समाहित किया गया है। सांख्य दर्शन में भी दुःखों की चर्चा करते हुए त्याग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

“दुष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशयपुक्तः।

तद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्”।।

यहाँ दुःखों की निवृत्ति के लिए प्रत्यक्ष एवं सुने गये कारण को त्यागने की बात कही गयी है इसी तथ्य को प्रति पादित करते हुए पातञ्जल योग सूत्र में कहा गया

है- 'दृष्टानुश्रविकः विषय वितृणस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' यहाँ प्रत्यक्ष एवं अनुश्रविक समस्त प्रकार के विषयों के त्याग को अपर वैराग्य कहा गया है। जहाँ तक गीता दर्शन की बात है यह महाभारत का एक अंश है। यह 18 अध्यायों एवं 700 श्लोकों से समावृष्टित है। गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। बुद्ध के बहाने अध्यात्म की जो शिक्षा गीता में मिलती है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पढ़ने पर सरल से सरलतम किन्तु सुनने में गूढ़ से गूढ़तम माना जाता है। इसके पद-पद में रहस्य भरा हुआ है। भगवान के गुण, प्रभाव और मर्म का वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्र में किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थों में मिलना कठिन है। इसीलिए वेदव्यासजी ने महाभारत में गीता का वर्णन करने के उपरान्त इसके महात्म्य के बारे में कहा है-

“गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्दिसृता।।”

अर्थात् गीता सुगीता करने योग्य है, इसे भली प्रकार पढ़कर अन्तःकरण में धारण करना चाहिए। क्योंकि यह स्वयं भगवान विष्णु के मुखारविन्द से निकली हुई है फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है। गीता के 18वें अध्याय में ही गीता की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है -

“य इमं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वपि धारयति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्वसंशयः।।”

अर्थात् जो पुरुष मुझमें समर्पित होकर इस परमरहस्य युक्त गीता भाष्य को मेरे भक्तों में कहेगा अर्थात् निष्कामभाव से प्रेमपूर्वक मेरे भक्तों को पढ़ायेगा, वह निस्सन्देह मुझे प्राप्त करेगा। ज्ञानी, पुरुषार्थी तथा भक्ति में निमग्नित व्यक्ति के लिए गीता मार्गदर्शिका तो है ही किन्तु अज्ञानियों, अपुरुषार्थियों एवं नास्तिकों के लिए सद् मार्गदर्शिका है। गीता में त्याग को निःश्रेयस के लिए आवश्यक माना गया है। गीता के अठारहवें अध्याय में त्याग की विस्तृत मीमांसा इसलिए दी गयी है ताकि साधक त्याग को समझकर अपने जीवन के उच्चतम लक्ष्य को हासिल कर सके। प्रायः संन्यास और त्याग को एक समान समझा जाता है। जिसने संन्यास ले लिया प्रायः वह सभी भौतिक वस्तुओं से निवृत्त होना चाहता है। धन, वैभव, सत्ता, उपाधि आदि से ऊपर उठकर सद्गति के लिए प्रयास करता है। किन्तु गीता में संन्यास और त्याग के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

“काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयोःविदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विवक्षणाः।।”

अर्थात् कितने ही पण्डितवर काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं और कितने ही विचारशील व्यक्ति सम्पूर्ण कर्मों के त्याग को 'त्याग' कहा है। अर्थात् काम्यकर्मों का त्याग तुलसी प्रज्ञा-समीक्षित शोध पत्रिका, अप्रेत-दिसम्बर, 2014 अंक - 162-163 □ 92

संन्यास है और सम्पूर्ण कर्मों का त्याग, त्याग है। यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म काम्यकर्म हैं। ईश्वर की भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पितादि, गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार जाजीविका द्वारा गृहस्थ का निर्वाह आदि जितने भी कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इहलोक और परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम ही त्याग है। यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि देहधारी व्यक्तियों के द्वारा सम्पूर्णता से सभी कर्मों का त्याग आसान नहीं है। अतः इससे परे जो सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर लेता है, वह ही 'त्यागी' कहा जाता है -

“न हि देहभूता शक्तुं तयक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥”

गीता कहती है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी त्याग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। यहां परमात्मा को प्राप्त करने के लिए त्याग को प्रमुख साधन माना है। यहां त्याग को सात श्रेणियों में विभक्त कर स्पष्ट किया गया है। जो इस प्रकार है-

1. निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग ही त्याग है - प्रायः धर्मग्रन्थ यही मानते हैं कि इस धर्मग्रन्थ में जो निषिद्ध कर्म बतलाये गये हैं उनका त्याग आवश्यक है। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, आगमग्रन्थ, बाइबिल, कुरान, जेन्दा अवेस्ता आदि धर्मग्रन्थों में निषिद्ध कर्मों का उल्लेख है। गीता में हेय कर्म को ही निषिद्ध कर्म कहा गया है। चोरी, झूठ, छल, कपट, हिंसा, प्रमाद, व्याभिचार, कामाचार, दुराग्रह आदि शास्त्रविरुद्ध कर्मों को मन, वाणी एवं शरीर से न करने के संदर्भ में वकालत की गयी है। उल्लेख है-

“रागी कर्मफलप्रेप्सुर्तुष्यो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ताराजसः परिकीर्तितः ॥”
“यथा स्वप्नं घयं शोकं विषादं मदमेव च ।
नदिमुञ्चति दुर्मघा घृतिः सापार्थतामसी ॥”

उपर्युक्त राजसी एवं तामसी कर्म भी गीता में निषिद्ध कर्म माने गये हैं। निषिद्ध कर्म किसी भी स्थिति में नहीं करने चाहिए।

2. काम्य कर्मों का त्याग - स्त्री, पुत्र और आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग-भोगादि के निवारण के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं। वे ही काम्य कर्म हैं अर्थात् यदि किसी इच्छा या, कामना की पूर्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे काम्य कर्म हैं। 'स्वर्गं कामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ करना चाहिए। इस संदर्भ में गीता कहती है-

“त्याग्यं दोषवदित्येके कर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याग्यमिति चापरे ॥”

तुलसी प्रज्ञा-समीक्षित शोध पत्रिका, अप्रैल-दिसम्बर, 2014 अंक - 162-163 □ 93

अर्थात् कई विद्वानों का मानना है कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं। इसलिए त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वानों के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं है। दोनों प्रकार के मतों में गीता का स्पष्ट मत है कि यज्ञ, दान एवं तपादि कर्म निस्सन्देह उत्तम कर्म हैं। यदि ये कर्म किसी फल के वशीभूत होकर किये जाते हैं तो ये निस्सन्देह त्याज्य हैं। स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना, गरीब को धनी बनाने के उद्देश्य से उसे मदद करना तथा उपरि गति के लिए तप करना ये काम्य कर्म हैं। अतः इन कर्मों का त्याग आवश्यक है किन्तु यदि आसक्ति और फलों को त्यागकर यज्ञ, दान, तप, रूप कर्म तथा अन्य श्रेष्ठ कर्म किये जाते हैं तो वे त्यागने योग्य नहीं हैं। कहा भी गया है -

“एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चितं मेतमुत्तमम् ॥”¹¹

अतः सकाम तप, दान, उपासनादि कर्म त्याज्य हैं।

3. तृष्णा का सर्वथा त्याग - तृष्णा से तात्पर्य इच्छा, कामना, अभिलाषा से है। तृष्णा एक प्रकार की लालच है। लालच के वशीभूत होकर ही व्यक्ति स्वत्व को खो देता है। कवि का चित्रण है - विकसित कमलिनी के परागपान में मस्त भ्रमर को यह पता ही नहीं चलता कि कब शाम हो गयी और पंखुड़ी के बंद होने से वह भी उसमें बंद हो जाता है और अगले सुबह का इन्तजार करता है तथा पुनः परागपान की अभिलाषा रखता है किन्तु 'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उन्जहार' प्रातः होते ही एक हाथी के द्वारा उस कमलिनी को भर्दित कर दिये जाने पर वह लालचो भौंरा अपना अस्तित्व समाप्त कर बैठता है। पतंगा भी अग्नि की शिक्षा में आसक्त होकर अपने अस्तित्व की बलि दे देता है। कहा गया है -

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तद ग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥”¹²

अर्थात् जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह भले ही प्रारम्भ में अमृत के समान लगे परन्तु परिणाम में विष के सदृश है। अतः त्याज्य है। ऊपर के दृष्टान्त में भ्रमर और पतंगा तृष्णा के वशीभूत होकर अपने अस्तित्व को भी समाप्त कर लेता है।

4. स्वार्थ के लिए परसहयोग का त्याग - जर्मनी के महान दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट ने कभी कहा था कि कभी अपने स्वार्थ की सम्पूर्ति के लिए दूसरों को साधन के रूप में उपयोग मत करो। अर्थात् अपने कार्य की सिद्धि अपने पुरुषार्थ से करो। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अवसर आने पर किसी की सेवा ली और अवसर निकल गया तो उसे दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया। इसलिए गीता स्वार्थ के वशीभूत होकर तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु दूसरों को साधन के रूप में उपयोग की इजाजत नहीं देती है। स्वार्थ और पराधलम्बन के लिए गीता में कोई स्थान नहीं है। जहां निष्काम कर्म पर बल दिया गया हो वहां स्वार्थ तुलसी प्रज्ञा-समीक्षित शोध पत्रिका, अप्रैल-दिसम्बर, 2014 अंक - 162-163 □ 94

के लिए स्थान कहाँ? जहाँ ईश्वर परायण की बात कही गयी हो यहाँ भौतिक पराक्लम्बन के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अतः अपने सुख एवं अपने कल्याण के लिए दूसरों का सहयोग लेना या किसी के द्वारा दी हुई सेवा को स्वीकार करना या स्वीकार करने की इच्छा रखना यह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों से सेवा कराने के भाव हैं, जो ठीक नहीं है, अतः त्याग्य है। यहाँ स्वार्थ के संबंध के स्थान पर जल से कमलवत् जैसे - निर्लिप्त संबंध को उकेरा गया है, यथा-

“ब्रह्मण्याघाव कर्माणि सद्गुं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।”¹³

यहाँ स्पष्ट संदेश है कि सम्पूर्ण स्वार्थों की तिलांजलि देकर अपना सर्वस्व परमात्मा में अर्पणकर यदि कोई पुरुषार्थ करता है तो वह जल के कमल के पत्रों के सद्गुण पाप से लिप्यायमान नहीं होता है।

5. आलस्य और फल की इच्छा का त्याग - युद्धभूमि में अर्जुन को अपने सामने विपक्षी सेना में अपने सगे-संबंधियों को देख उसे मोह हो जाता है और मोह के वशीभूत होकर वह प्रमादी की तरह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है, ऐसी विषम स्थिति में ही कृष्ण ने अर्जुन के मोह एवं आसक्ति को समाप्त करने के लिए निष्काम कर्म की शिक्षा दी। यह निष्काम कर्म ही अर्जुन को कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। गीता कहती है -

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि।।”¹⁴

अर्थात् बिना किसी फल की चिन्ता करते हुए अपने कर्म को करना चाहिए। बिना फल की इच्छा के किया गया कर्म ही श्रेष्ठ कर्म है उससे व्यक्ति न सुख-दुःख की अनुभूति करता है और न ही पाप-पुण्य के बन्धन में ही बंधता है। वह सदैव सम स्थिति में रहता है। यहाँ आलस्य और कामना के त्याग के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं-

- (अ) ईश्वर भक्ति में आलस्य और कामना का त्याग
- (ब) देवताओं की उपासना में आलस्य और कामना का त्याग
- (स) माता-पितादि की सेवा में आलस्य और कामना का त्याग
- (द) यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग
- (य) शरीर संबंधी कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग
- (र) आजीविका के कर्मों में आलस्य और कामना का त्याग

कर्तव्यकर्मों का निःस्वार्थ भाव से केवल परमेश्वर के लिए आचरण करना ही सब प्रकार से परमात्मा के अनन्यशरण होना है। कहा गया है-

“तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।”¹⁵

तुलसी प्रसाद-समीक्षित शोध पत्रिका, अप्रेल-दिसम्बर, 2014 अंक - 162-163 □ 95

अर्थात् निष्कामभाव से बिना किसी आलस्य के ईश्वर में अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए। देवताओं की उपासना भी सकाम नहीं होनी चाहिए। कार्य सिद्ध होने पर भगवान के दर्शन करने या लड्डू चढ़ाने का संकल्प सकाम संकल्प है, जिसका त्याग आवश्यक है। माता-पिता, आचार्य एवं अन्य पूजनीय की सेवा में भी न कोई शर्त होनी चाहिए और न ही प्रमाद होना चाहिए। यज्ञ, दान और तप भी बिना फल की इच्छा के निरन्तर करना चाहिए। शरीर निर्वाह के लिए शास्त्रोक्त रीति से भोजन, वस्त्र एवं औषधियों का सेवन बिना निजी कामना और प्रमाद के करना चाहिए। अपने-अपने कर्म के अनुसार आजीविका के लिए निर्धारित कर्म भी बिना किसी फल की इच्छा के करना चाहिए।

6. सम्पूर्ण पदार्थों में आसक्ति का त्याग - त्याग उपर्युक्त पाँचों श्रेणियों में देखा जाता है किन्तु जब तक ममता और आसक्ति का त्याग नहीं हो जाता तब तक सच्चिदानन्द परमात्मा में अनन्य भाव से समर्पण नहीं हो पाता है। दृवी श्रेणी के त्याग को प्राप्त हुए पुरुषों का संसार के सम्पूर्ण पदार्थों से अनासक्त होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। कहा भी गया है -

“ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥”

अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ, प्रसन्नचित वाला पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। वह सब भूतों में समभाव हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है। तृतीय अध्याय में भी कहा गया है -

“तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्मसमाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥”

अर्थात् अनासक्त भाव से तू निरन्तर कर्मभाव का अच्छी प्रकार आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष ही कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त करता है।

7. सम्पूर्ण कर्मों में वासना एवं अहंभाव का त्याग - वासना एवं अहंभाव को ऐसा दुरुण माना गया है जो व्यक्ति के बन्धन के कारण हैं। वासना संस्कार को कहते हैं। यह संस्कार सूक्ष्मतरु रूप में स्थित होकर व्यक्ति को पुनर्जन्म के लिए बाध्य करता है। अहंकार तो पतन का प्रमुख कारण है। कहा भी गया है -

“अहंकारं मे तीनों गये घन, वैभव और वंश।

न जानो तो देख लो, रावण, कौरव और कंस॥”

सचमुच प्रतापी रावण, घमण्डी दुर्योधनादि कौरव तथा निष्ठुर कंस का पतन इसलिए हुआ था कि वे अहंकार के मद में इतने चूर हो गये थे कि उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति का भान ही नहीं था। इसलिए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं-

तुलसी प्रज्ञा-समीक्षित शोध पत्रिका, अप्रेल-दिसम्बर, 2014 अंक - 162-163 □ 96

“प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
अहंकार विभूद्वात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥”¹⁸

अर्थात् हे अर्जुन! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं। प्रकृति के तीन गुण हैं- सत, रज और तम। सुख, प्रसन्नता आदि के कार्य सतों गुण द्वारा, दुःख, कष्ट, चंचलता के कार्य रजोगुण द्वारा तथा आलस्य, निद्रा, तन्द्रा तथा प्रमाद के कार्य तमो गुण द्वारा होता है। फिर भी अहंकार से ग्रस्त अन्तःकरण वाला पुरुष मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानकर कर्मबद्ध होता है। अतः वासना और अहंभाव की जड़ से तिलांजलि देकर सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से दृढ़ होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता दर्शन में त्याग धर्म को सात श्रेणियों में विभक्तकर इसकी सांगोपांग विवेचना हुई है। इन सातों अवस्थाओं में परिपक्व होकर पुरुष सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। फिर उसके लिए नाशवान, क्षणभंगुर संसार का अस्तित्व वैसे ही नहीं रह जाता जैसे स्वप्न से जगे हुए पुरुष का स्वप्न संसार से कोई संबंध नहीं रह जाता है।

सन्दर्भ सूची :

- | | |
|--------------------------------|----------------|
| 1. सर्वार्थसिद्धि, 9/26/443/10 | 10. वही, 18/3 |
| 2. राजवार्तिक, 9/6/18/598/5 | 11. वही, 18/6 |
| 3. सांख्यकारिका कारिका-2 | 12. वही, 18/38 |
| 4. पातञ्जल योगसूत्र, 1/15 | 13. वही, 5/10 |
| 5. भगवद्गीता 18/68 | 14. वही, 2/47 |
| 6. वही, 18/2 | 15. वही, 18/62 |
| 7. वही, 18/11 | 16. वही, 18/54 |
| 8. वही, 18/27 | 17. वही, 5/19 |
| 9. वही, 18/35 | 18. वही, 3/27 |

— निदेशक

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक :
समय-आगम

डॉ० सुनील कुमार
412/3 जागृति बिहार,
गढ़ रोड, मेरठ 250004
सम्पर्क : 9219794232

सर्वाधिकार सुरक्षित

Year VIIIth Vol. I WINTER, FEBUARY, 2014 Half Yearly
Multilingual ISSN-0976-4682

Sr. No. 15

Price : Rs. 500/-

वैधानिक सूचना

समय-आगम अर्द्धवार्षिक शोध पत्र के सभी पद और कार्य पूर्णतः अवैतनिक हैं। किसी भी विवाद की स्थिति में न्याय क्षेत्र मेरठ जनपद होगा। प्रकाशित शोध-पत्र/आलेख एवं सम्बन्धित सामग्री, विषयवस्तु और उद्धृत संदर्भ आदि का समस्त उत्तरदायित्व लेखक का होगा। स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक शोध-पत्र/आलेख के प्रति किसी प्रकार के उत्तरदायी नहीं होंगे। किसी भी अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनःप्रकाशन के लिये लिखित अनुमति अनिवार्य होगी।

स्वामी मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक डॉ० सुनील कुमार द्वारा शिवम् ऑफसेट प्रिंटर्स, ए-1, वैशाली कॉलोनी, मेरठ से मुद्रित कर 412/3 जागृति बिहार, मेरठ से प्रकाशित

अनुक्रमणिका

- 1- मेघदूत में प्रयुक्त मेघ-पर्यायों की अर्थव्यंजकता
डॉ० अंजना मेहता 6
- 2- मर्तृहरि शतक 13
- 3- "भीरा" दरद न जाण्या कोय
डॉ० सुनील कुमार 16
- 4- मानव अधिकारों का संघर्ष
(भारतीय नारी के विशेष सन्दर्भ में)
डॉ० जुगल किशोर दाधीच 24
- 5- निराला और उनका सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण
डॉ० प्रियंका कुमारी 34
- 6- शोध कार्य का सामाजिक विकास में महत्व
डॉ० बबलू सिंह, डॉ० हरेन्द्र कुमार 38
- 7- 'गदल' कहानी नारी शक्ति का यथार्थ दस्तावेज
प्रा० दिनेशमाई किशोरी 46
- 8- मानवीय संवेदना के रचनाकार हजारी प्रसाद द्विवेदी
डॉ० बबीता त्यागी 51

निराला और उसका सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण

डॉ० प्रियंका कुमारी

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हिन्दी के युगान्तरकारी कवि हैं और छायावादी कवि चतुष्टय में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी कविता में नवजागरण का सन्देश मिलता है, प्रगतिशील चेतना तथा राष्ट्रीयता का स्वर दिखता है मानव मन की पीड़ा, परतन्त्रता के प्रति तीव्र आक्रोश उनकी कविताओं में है तथा अन्याय एवं असमानता के प्रति विद्रोह की भावना उनमें सर्वत्र व्याप्त है।

निराला की रचनाओं में आक्रोश एवं विद्रोह की प्रधानता विद्यमान है जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने ओज और औदात्य कहा है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने उन्हें उद्बुद्ध सचेत एवं जागरूक कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरुद्ध वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। मानव की पीड़ा ने उनके संवेदनशील हृदय को करुणा प्लावित कर दिया था। उच्च वर्ग की विलासिता एवं निम्न वर्ग की स्थिति को देखकर वे अपने हृदय में गहन वेदना, टीस एवं छटपटाहट का अनुभव करते थे। सामाजिक विषमता के विरुद्ध वे आवाज उठाते रहें। उनके काव्य का मूल स्वर क्रान्तिकारी एवं विद्रोही भावनाओं से युक्त है। सामाजिक विषमता के कारण मानव कितना दयनीय बन गया है इसकी अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है—

चाट रहे जूठी पत्रल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।

और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।।

निराला के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की सच्चाई मानूम होती है।

जीर्ण बाहु, है जीर्ण शरीर

तुझे बुलाता कृषक अधीर

असिस्टेंट प्रोफेसर,

हिन्दी दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्व भारती लाइब्रू (राजस्थान)

SAMAY AAGAM RESEARCH JOURNAL, 2014 (WINTER)
Year VIIIth Vol. I Multilingual ISSN-0976-4682

34

ऐ विप्लव वीर !

चूस लिया है उसका सार,

हाड़ मात्र ही है आधार,

ऐ जीवन के पारावार !

निराला के काव्य में सामाजिक विषमता के प्रति तीव्र आक्रोश दिखाई देता है। 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताएँ गरीबों के प्रति सहानुभूति से भरी हुई हैं। वह तोड़ती पत्थर की उस मजदूरनी की दीन दृष्टि में जो पीड़ा है उसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में सहज से देखी जा सकती है—

"देखते देखा मुझे तो एक बार

उस भवन की ओर देखा छिन्न तार

देख कर कोई नहीं

देखा मुझे उस दृष्टि से जो मार खा रोई नहीं

सजा सहज सितारा,

सुनी मैंने वह नहीं जो थी झंकार।"

निराला एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जो शोषण मुक्त हो, जहाँ अन्याय एवं अत्याचार के लिए कोई शोषण स्थान ही न हो। वे समता, स्वतन्त्रता, न्याय के समर्थक थे और सामाजिक विषमता को हर स्तर पर समाप्त कर देना चाहते थे। भारतीय समाज ने 'विधवा' की स्थिति कितनी दयनीय है, इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी 'विधवा' कविता के माध्यम से इस प्रकार की है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी

वह दीप शिखा-सी शान्त भाव में लीन

वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा-सी

वह टूटे तरु की छुटी लता-सी हीन

दलित भारत की ही विधवा है।"

निराला ओज और औदात्य के कवि माने गये हैं। भारत की परतन्त्रता के प्रति वे जनता को जागरूक करना अपना कर्तव्य माना है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। 'जागो फिर एक बार'

SAMAY AAGAM RESEARCH JOURNAL, 2014 (WINTER)
Year VIIIth Vol. I Multilingual ISSN-0976-4682

35

Defamiliarization of A Historical Event in *Train to Pakistan*

Ms. Tripti Tripathi

Literature gives us a picture of life not the picture that is actually (historically) true but a picture that has its own kind of truth a 'truth' that includes important elements that science from its very nature, is forced to leave out. The truth of literature takes the form, not of abstract statement, but of a concrete and dramatic presentation which may allow us to experience imaginatively the "lives" meaning of a piece of life. (1964; 16)

There are close relations between history and literature. Literature many a time deals with history. Literature provides all sorts of charm and also deals with history unfold the past, before the readers as well. It acquaints their readers with what happened in the past. It appeals to its readers and gives a unique form of knowledge. The knowledge and truth that literature present, are different from the knowledge and truth, which are provided by history. Literature presents no abstract statements. But a concrete presentation is given by it, which is dramatic in value, which attracts its readers. It also enables the readers to have an imaginative experience of life that creates aesthetic pleasure in the hearts of readers. That aesthetic pleasure differentiates literature from history. As Stopford Brooke quoted:

Writing is not literature unless it gives to the readers a pleasure which arises not only from the things said, but from the way in which they are said; and that pleasure is only given when the words are carefully or curiously or beautifully put together into sentences. (2007; 3)

So literature is a written work which has artistic value and beautiful expression. History has the true account of past events, but in the consequences of lacking of imaginative artistic values, it is not counted as a literature. Novels, short stories, poems, dramas and so on are very important. They reveal the awareness of the writers of the things, which is happening around him. They revive and sustain the interest of readers.

Modern Indian writers richly present the historical events and incidents in their works. And Khushwant Singh is one of them. The incident of partition on 1947 appealed him and enforced him to form a novel entitled 'Train to Pakistan'. Through this novel fact is presented in the way of fancy. It has the background of communal riots at the time of partition, 1947, of which he himself was a witness. The novel 'Train to Pakistan' gives a most graphic, vivid and a realistic account of communal riots, which took place at the time of partition of India on 1947. Such qualities have made this novel a literature and not as the part of history.

The known is made unknown by certain devices and these devices are used to defamiliarize the familiar. Thus defamiliarization takes readers from the known to the unknown. By using it, literature becomes effective and its impact on the readers is more because of its sound psychological principles. It maintains the interest of readers in spite of being familiar with the event. For instance, known historical elements, are presented in an attractive and appealing way by Khushwant Singh through 'Train to Pakistan'. In context of partition most of people know what partition is and what happens during that period. In fact, it has been repeated over and over again that it needs no introduction. But, 'Train to Pakistan' describes

it in a different way which makes the very event new and unfamiliar. Such literariness defamiliarizes the event by presenting a text artistically. A history book gives the raw material i.e. what happened during a particular time period is shaped artistically and it turns out to be where readers feel to be unfamiliar. A historian gives information and by reading it people feel boredom, where as a novelist presents same information in such a way that stimulates reader's interest and try to sustain the attention of theirs. A novelist gives almost life to description. He uses his pen of imagination on the canvas of Indian History. A novelist expresses history in such a humanistic way that touches the reader's emotion. Dr. Vikas Sharma expresses his views about it ingeniously

The novelist doesn't confine himself only to starting the 'cold truth' of a historian. He concentrates on depicting the 'hot truth' of an artist. The artist takes care to maintain the delicate balance between the artistic content and history and politics. It enables him to produce authentic articles. Indian writers looked to history as the storehouse of untapped stories. (2007; 4)

Thus through the quality of defamiliarisation, (as rusion formadism) a novelist presents known thing in a fanciful way and that known thing being modified, provides newness to its readers. This is the beauty of literature that increases the number of readers which a Historian can't gain. Khushwant Singh also has done the same that's why he has become so popular. Khushwant Singh created a symbolic place named Mano Majra, a small place situated about half a mile away from the great river in Punjab 'sutlaj'. There were only three bricks buildings in the whole village. One of which was a house of

money-lender and the other two were Hindu temple and Mosque. The rest of the houses were flat-roofed and made up of mud with low-walled courtyard. Seventy families were living in this village. Out of which only Ram Lal the money-lender was Hindu and rest were Sikhs and Muslims. Sikhs were the owner of the land and Muslims were living on the rent. Sweepers never belonged to any religion but Muslims claimed them as their own people. When American visitors used to come in the village these sweepers wore Khaki sola topes to entertain them. Thus Khushwant Singh created a clean picture of a well-managed village which had been untouched by violence. For the novelist, it is important and a challenging task to set the readers' mind on the background of situation so that readers can develop their charm to reading the novel. His fictional village also has a railway station. And the life of villagers was fixed with the timing of the trains. The explanation of the village is very foundation of the novel which makes the novelist successful to fix the mood of readers. Though the imagination power of novelist is very high throughout the novel, even he remains true to the history till the end. Mano Majra the place was once very calm and harmonious but never remained the same till the end. Gradually the communal harmony was replaced by communal disharmony. How great is the creativity of novelist that he maintained his honesty in explaining the reality. It could be seen in following cited example which a historian V. P. Kanitkar remarks:

...Forty-eight hours over 5000 people died in Calcutta. These communal riots later spread to Nokhali, Bihar and Punjab. (1987; 10)

Here the idea is given that how communal riot spread gradually one place to another. The

same information is given by Khushwant Singh in his novel in a very decorative way.

From Calcutta, the riots spread North and East and west: to Noakhali in East Bengal, where Muslims massacred Hindus; to Bihar where Hindus massacred Muslims. Mullah roamed the Punjab and frontier province with boxes of human skulls said to be those of Muslims killed in Bihar. (T;1)

Any historian has not created such atmosphere which goes ahead and adds the elements of imagination to event without leaving whole and Sole of the event. But Khushwant Singh has infused life to the incident with his wit. So it is clearly understood that a historical account gives just a fact but a literature expresses the same in a decorative language where a reader feels pleasure. So both descriptions concoct a clear image of a same event in two different scenarios.

This is known to all that at the time of partition, the train became like 'moving graveyard'. The train used to bring and carry back dead bodies from Pakistan to India and India to Pakistan. Khushwant Singh presented the same scene in different way. As he used the word *Ghost*, the symbol of darkness, the novelist gave a pictorial description of the train which took dead bodies across the borders. He also used some phrases metaphorically such as 'Red tongue of Flame', 'A Faint Acrid Smell of Searing flush'. The red tongue of flame leaped into the black sky. Such scene had been interpreted by Vasant Shahane beautifully:

The Red tongue of Flame symbolizes the poisonous and aggressive nature of the snake and show how, in the heat of destructive lunacy men turn into poisonous reptiles. The distant fires

brought "a joint acrid smell of searing flesh", which caused a sense of horror among the village When the red tongue of flam leaped in the black sky everyone knows the horrible reality of the massacre. (1972, 71)

Besides, Khushwant Singh draws the picture of some pathetic scene which creates the clear idea about the incident, where readers feel that they are the eye witness of the moment.

There were women and children huddled in the corner, their eyes delighted with horror, their mouth still open as if their shrieks had just then become violence. Some of them did not have a scratch on their bodies and wall of compartment looking in terror at the empty windows through which must have come shots spears and spikes. There were lavatories jammed with corpses of young man who had muscled their was to comparative safety. And all the nauseating smells of purifying flash, faces and urine the very thought made vomit... and partition brought nothing but fortune fears and tragedy. (T; 85)

The acrimonious battle taken place between India and Pakistan, the erstwhile brothers, after independence, could be best understood only by reading of historical books, related historical literatures and the concerned people who faced the unpleasant event of partition. This knowledge of history also paves the way for world peace as one would eventually understand that world peace can not be achieved without mutual cooperation. Unfortunately, these earstwhile brothers did not show their mutual cooperation and fought against each other. But as a matter of fact, people of contemporary India were not

ready to have India divided. They showed the feeling of brotherhood. They were not ready to leave their native place only for the sake of community. Khushvant Singh writes:

What have we to do with Pakistan?
We were born here so were our ancestors. We have lived amongst you as brothers. Imam Baksh broke down. Meet Singh clasped him in his arms and began to sob. Several of people started crying quietly and blowing their noses. (T; 126)

The Lambardar spoke, "yes you are our brothers. As far as we are concerned, you and your children and your grandchildren can live here as long as you like. If any one speaks rudely to you, your wives or your children, it will be us first and our wives and children before your single hair of your head is touched. (T; 126)

Here the clear distinction performed in terms of language, can be seen by these expression. In- fact the literature gives the sensitive beauty to the expression. Such pictorial description attracts the readers and takes them to unknown, what is already known. The word formation had been described conventionally, so that readers find newness in it. Meanwhile, the very text also talks about love and romance. Khushwant Sing here does not ignore the very charm of novel. It is the beauty of novel that two paradoxical scenes go on simultaneously. Communal riots between Hindu and Muslim and Sikh were on its zenith, on the other side a love story of Muslim girl and Hindu boy was moving vis- a vis. This aspect gives life to the otherwise dry historical accounts of the partition of India. This artistic quality makes khushwant Singh different from Historians and makes his work history cum a

literature. Moreover, the story doesn't deal with only love and romance, but also sacrifice. A lover, from different community, sacrifices his life for his beloved who belongs to a different religious community. The train which goes Pakistan bearing Muslims, are living in India, is to be attacked by a couple of selfish so called Hindus. The train was also bearing Nooran. Juggat Singh Comes to know the plot and goes immediately to spoil the entire plan and he could succeed in his deed. But he has to sacrifice his life. The immolation of his life has nothing to do with establishing non- violence. On the contrary, it only for saving the life of his Beloved, who is pregnant. Whatever the reason is, he save many a life. His sacrifice has been described in the novel:

... only a thin tough strand remained. He went at it with the knife, and then with his teeth. The engine was almost on him. There was a volley of shots. The man shivered and collapsed. The rope snapped in the centre as he fell. The train went over him, and went on to Pakistan.

Thus Khushwant Singh makes his readers emotional by showing the death of Juggat Singh. The combination of a tragic love story and the pathetic fact of 1947 with its artistic description makes the novel a memorable piece of Literature and this Defamiliarization, as Russian Formalism, has been used as the tool in terms of the presentation of language, By using this tool the writer brings readers known to unknown. And at the end, It can be said that khushwant singh , the most significant novelist, short stories writer, a brilliant historian and journalist, had taken pains to keep his imagination well within the course of facts and formed the very famous book Train to Pakistan. At the end, this paper ends with lines

of Vasant A. Shahane for the novel Train to Pakistan:

Train to Pakistan, therefore, is no mere realistic tract, nor is it a bare record of actual events. On the contrary, it is a creative rendering of the real, and it reaffirms the novelist's faith in man and renews artistically his avowed allegiance to the humanistic ideal. (1972; 104)

References :

1. Singh, khushwant. Train to Pakistan. New Delhi: Time Books International, 1989.
2. Ghai, Prem Vati. The Partition of the Punjab 1849- 1947. New Delhi: munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, 1986.
3. Kanitkar, V. P. The Partition of India: Wayland (publishers) ltd, 1987.
4. Blamives Harry. A History of Literary Criticism. Macmillan, 1991.
5. Shahane, vasant A. Khushwant Shingh (A Survey of the world Literature). New York: Twyne (publishers) Inc, 1972.
6. Sharma, Vikas. Treatment of History in India English Novels. New Delhi: Vishvabharti Publications, 2007.

**Asst. Professor of English
DDE, JVBI, Ladnun (Raj)**

The Real Scenano of Higher Education

Ms. Tripti Dubey

Generally the word education is used for formal methods of education such as school, college, University. Education system has many stages such as preprimary, primary, secondary schools and colleges and universities. The teacher's role is also differ from one stage of education to another. Teacher's role in primary school is not equivalent to the role of higher education. It is important to keep an eye on the way the teacher try to impart education. The role of teacher are as significant as the role of education. They are the torch bearer who can work wonders by dispelling the intellectual and mental darkness. They are the source of inspirations. The main goal of teachers is to build our youth for future. This poses a special responsibility on the teachers at all fields of education. Dr. Radhakrishnan (1949) in the report of the University Education Commission has aptly observed, "The Teacher's place in society is of vital importance. He acts as the pivot for the transmission of intellectual traditions and technical skills from generation to generation and helps to keep the lamp of civilization burning. He not only guides individual, but also, so to say, the destiny of the nation." (2003, p 89)

A person is born with some learning instinct. Some are gifted with sharp intellect to grasp any kind of knowledge. Some are slow learners where as there are many who are lazy or idle enough as far as learning is concerned. The aim of education should be to motivate and encourage the learners to widen their knowledge. Once they are interested in the learning activity they should also be guided how to produce on the path of progress and thus the teachers play an important part not only in creating a desire to learn but also to sustain learner's interest in the activity of learning more and more. Here comes the need (for teaching) of attracting learners in the orbit of knowledge and to kindle the spark of sustained

interests in accumulating knowledge to the extent of intensity and perfection. Mere superficial knowledge does not take a person to a great distance, there is always a danger of getting exposed, only who have sound and profound knowledge can make a mark on others. So the teachers should avoid the ambiguity and inculcate among the learners the habit of clarity. Teachers should lead learners safely out of the labyrinth of complexities and show him the enlightened path. This task can be done by one who himself/herself has the confidence and clarity of the subject.

Teachers' role and responsibility vary through ages and teachers are required to perform various functions according to the needs and requirements at different stages of education. The functions are: teaching, class management and planning of lesson, evaluation of student performance, research activities, extension activities, motivation, sustaining the interests, psychological impact.

Teaching is the prime responsibility of a teacher in all stages of education, especially in higher education where a great deal of knowledge is given to students. Teaching is a complicated process involving artistic skills and responsibility. Teachers should not only acquire knowledge but also have the mastery in their subjects. There are vital and general principles for teachers need to be followed at every stages of education. These principles are as follow:

- *From known to unknown:* "The past experience serves as the foothold for the new ones." A good teacher must recall the students' prior knowledge and lead them towards newness. Teacher must try to remind known things and let them feel with the subject matter

very familiar and then enable them to move ahead from known to unknown.

- *From simple to complex:* it will be the worst if one teaches direct complex things to their students. Simple things attract student's attention. If we start from complex, will make them aversive. So the teacher should start from simple to complex.

- *From whole to part:* Psychologist here proved that whole approach is superior to part approach. Parts do not give a comprehensive and meaningful idea, however whole develops better and perfect understanding in students.

- *From concrete to abstract:* Undoubtedly a concrete matter much more understood than that of abstract one. A perfect teacher therefore presents facts from concrete objects, activities and examples, Congruently students can clutch the ideas without any hurdle.

- *From particular to general:* teachers should present particular facts, figures and examples first and then proceed to teach the general materials.

- *From empirical to rational:* Direct logical materials are hard to understand. Rational comprehension requires a solid mental ability which cannot be achieved all of sudden. A continuous practice is, in demand for this. So a teacher must try to teach his her students to observe their surround and learn from day-to-day life.

- *From thesis to synthesis:* living practical life makes the mind bright. So a teacher must be so practical that he/she can make students sensible. Theoretical approach will not make students to be intelligent.

Teaching is not one way process. It is not only the transformation of knowledge from one

generation to another. It also has an aim to inbuilt the power of critical and creative thinking in students. As Raja and Fernandes say:

Teaching at the higher education level is required not only to impart in-depth, up to date and relevant knowledge of the subject concerned to the student, but also to develop in him critical and analytical abilities as well as the capability to relate knowledge so received to real life situation.

Education has also been becoming 'learner and learning centered' instead of being 'teacher and teaching centered'. The whole emphasis has been given on the way a teacher teaches. If a teacher uses various methods and techniques, he can better transform the knowledge to the next generation. No single method can be used all the time and with all subjects. And all these methods and techniques demand creative efforts. There are some techniques like audio-visual programmes, radio, educational TV programmes, maps, charts, flash cards etc. should be used in teaching to make learning active and easy.

Class management and lesson planning skills are very essential for teachers and all teachers should acquire such skills. Before going into the classroom, teachers should go through the syllabus, make unit plan how to teach, use proper and appropriate methods and techniques so that students can get the whole idea about the subject concerned. But this is not enough. Assessment of students is the process which tells their performance. As The NPE, 1986 has stated, "assessment of performance is an integral part of any process of learning and teaching. As part of sound education strategy, examination should be employed to bring about qualitative strategy/

improvements in the education." (1986, p. 24)

Besides teaching, teachers are involved in research activities. Research activities may help teachers not only in generating knowledge but also gives a scientific bent of mind and self-confidence in a particular field. It is being realized that teachers of Higher Education cannot do justice to their role if they are not adequately involved in the day to day social problems. Extension activities therefore have been taken as an important dimension to the teacher's role. By participating in the developmental activities the teachers may help to achieve the goal of developed nation. Most of the time teachers are the role model of their students. They motivate students to achieve their goal seriously and sincerely.

Higher Education vs. Hire the Education

There are two concepts as far as education and especially higher education is concerned, some learners really want to enhance their ability to cope up with latest trends of knowledge. On the other hand there are many who just study for the sake of getting degree or certificate or testimonial to grab a suitable lucrative job to earn their livelihood. It is the second category of people who try to *hire* education to go higher on the pyramid/ ladder of success. They apply different tactics to rise in life. Education for them is only the means to go ahead on the path of material progress.

Education should aim at imparting values and the aim of higher education should to enrich the quality of a human being to rid him off all kinds of impurities and imperfections. It should not misguide him for being calculative and manipulative. Therefore, instead of hiring for one's material progress, the learners as well as

teachers should ensure higher qualities and values in all persons to go for higher education. The aim of higher education should inculcate nobility besides giving more and more knowledge. But now a days, corruption has taken place in all walks of life. And education system could not remain untouched from it. Consequently, education has become a business. People are buying and selling the degrees. Students do not come in the class and spend most of their time in canteen or doing another work. The absence of students makes teachers happy because they need not to enter in the class room. Nevertheless, students get first class result. Their knowledge is not according to their standard. This is the ground reality of higher education system. Students sometimes get degree of masters but when they are asked any question regarding their subject, they even do not know the ABC of their subject in which they are masters. So in present time people are earning their degrees. That's why the quality of education is being declined.

Education should aim at variety, clarity, precision and perfection. so, everyone should have some idea about the need of the hour. Instead of being jack of all trades, in or a person should not try to learn many things at the same time which is mostly in progress in present time. People are earning many degrees at a single time. They should concentrate on being perfect in the work which they are doing at a time. Sometimes students of higher education do not choose their course according to their wish. Parents compel them to study what they want and by doing so students do not maintain their interest in their course and they do not get perfection in their course which they have to choose for their profession.

Conclusion:

It is realized that as India had a golden past and a very rich heritage in the field of education. There were 'Gurukulas', which were run by a great scholars known as a 'Guru.' Education, at that time reached on its peak. But the whole system was disturbed by invaders and made education fragmented. The resources of knowledge were; Holistic Vedas, Upanishada, Epics etc. Rishis used to impart knowledge. The goals of education were; all-round development of humanity, self-realization, social obligation, preservation of knowledge, tolerance and self-control. Nalanda, Takshashila, were the great sources of higher education. These universities had international reputation. Later on Mughal came and affected the education of India. In this period the standard of education was pulled down. When Britishers came in India the education system got a vast change. Now the aim of education was to produce the class who would be Indian in blood and colour but English in taste, morals and intellect. But now-a-days the system of education is fully changed. Our education system has great improvement in the field of technology but in contrast it has loosened the values in which we were pioneer.

Today in India, education has become mere the means of employment. People are busy in making money. So the main goal and role of teachers should be to encourage students to move forward and make them learn our precious values.

References :

1. Mohanty, Jagannath. (2003). Current Trends in Higher education. New Delhi: Deep and Deep Publication Pvt ltd,

2. Hook, Sydney: (1963). *Education for Modern Man*. The dial Press, Inc., New York.
3. Barnett, R. (1992). *The Idea of Higher Education*. Buckingham: Open University Press.
4. Gopalan, K. (1995). *Higher Education in India- Prospects and Perspectives*. University News, AIU. New Delhi
5. Raza moonis and Fernandes, N. *Functions of teachers in Higher Education*. Journal of Higher Education, Vol. No, 13: No 1-3, UGC, New Delhi 1987.
6. Kaur, Kuldip. (2003) *Higher Education in India (1781- 2003)*. University Grants Commission. New Delhi.

Asst. Professor
Dept. of English
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

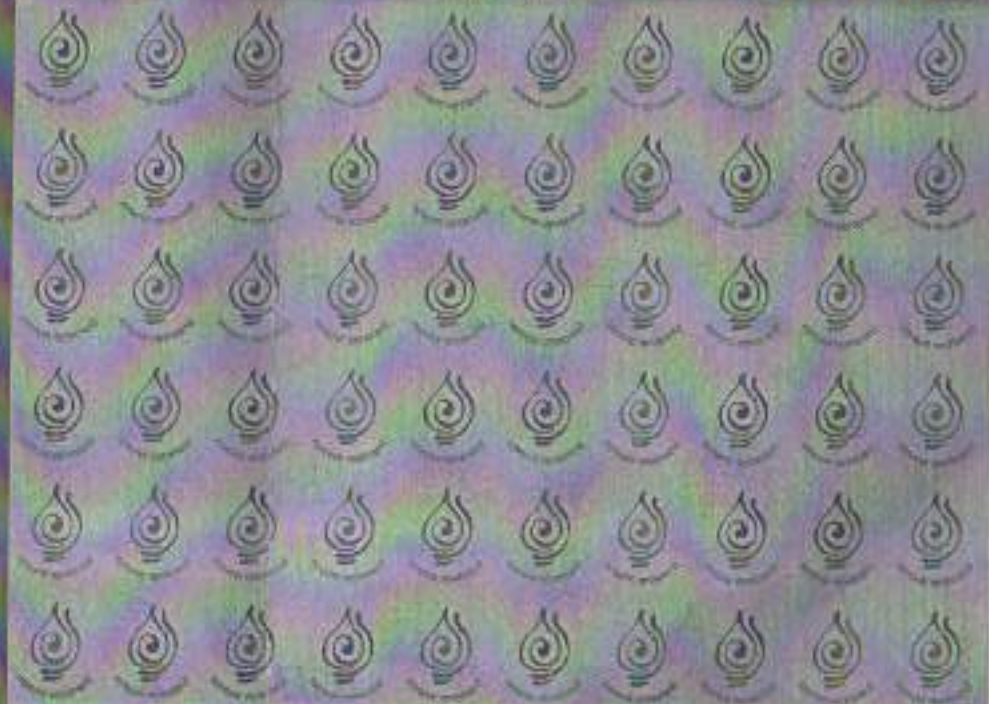


तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑĀ

वर्ष 43 • अंक 169-170 • जनवरी-जून, 2016

A Peer Reviewed Research Quarterly



जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनू - 341 306 (राजस्थान) भारत

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE

Ladnun - 341 306, Rajasthan, India

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू प्रकाशन सूची

क्र.	विषय/विषय	लेखक/लेखिका	पृष्ठ
01	Archeological Excavation & Reconstruction	Ashwari Malhotra	3
02	Archeological Views & Issues	Ashwari Malhotra	3
03	Shrihari Temple, Meerut, India & Its Surroundings	Prof. S.C. Banerjee	73
04	Archeology: The Third Era	Ashwari Malhotra	73
05	Science in Jainism	Prof. M.R. Gupta	200
06	The Queen of Jainism	Ashwari Malhotra	136
07	Science of Jainism	Ashwari Malhotra	140
08	Jainism and Jainism	Dr. V.K. Sharma, V.K. Jain	40
09	Jain Studies in Jainism	Prof. D.S. M.R. Gupta	44
10	Non-religious Beliefs in Jainism	Prof. B.R. Datta, D.D. Sharma, Prasad	...
11	and A New Social Order	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
12	Jain Biology	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
13	Jain Mathematics	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
14	Jain Philosophy & Epistemology	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
15	Dharmas	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
16	Jain & Jain Research Work	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
17	Bibliography on Jain Text in Sanskrit	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
18	The Importance of the Councils	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
19	Physical Mechanism and Bharat (Health)	Dr. Jyoti Rana, Prasad	50
20	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
21	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
22	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
23	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
24	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
25	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
26	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
27	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
28	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
29	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
30	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
31	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
32	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
33	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
34	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
35	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
36	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
37	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
38	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
39	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50
40	जैन धर्म का वैज्ञानिक आधार	डॉ. ज्योती राना	50

प्रकाशक - सम्पादक - प्रो. अनिल धर द्वारा जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनू के लिए प्रकाशित एवं विषय अधिकार प्रिन्टर्स, लाडनू द्वारा मुद्रित

Vol. 169-170

तुलसी प्रज्ञा

ISSN 0974-8857

TULSI PRAJÑĀ

A Peer Reviewed Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

YEAR-43

VOL.-169-170 JANUARY-JUNE, 2016

अनुक्रमणिका / CONTENTS

ENGLISH SECTION

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	7-12
Mathematical Ideas in <i>Bhagavati Sūtra</i>	Sannani Vinay Pragyā	13-30
Peace Journalism: The Need of the Hour	Dr Archana Katoch	31-44
Managing Academic Stress of Adolescents through Preksha Mediation: A Controlled Study	Vinod Kaswar, Vivek Maheshwari	45-55
Adoption And Usage of Sanskrit Language in Inclusive Education	Dr. Dhannajaya Bharjia	56-61
Jain Inscriptions of the Western Ganga Dynasty	Pinal Jain	62-70

हिन्दी खण्ड

विवरण	लेखक	पृ. संख्या
जैन ज्ञान भूमिका	डॉ. प्रद्युम्नशारदा सिंह	71-77
जैन दर्शन में कृष्टि-तत्त्व विमर्श : एक अवलोकन तथा मूल्यांकन	डॉ. सुरेश्वर मेहरे	78-85

Subject	Author	Page No.
गीता का ज्ञानयोग	प्रे. ज्ञानन्द प्रभाकर त्रिपाठी रत्नेश	86-93
सूत्र स्वाध्याय का अधिकारी कौन?	मुनि मदन कुमार	94-99
गौंधी दर्शन में अस्त्रिया एवं शिक्षा के अन्वयन	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	100-105
शान्ति स्थापना में वर्तमान शान्ति शिक्षा का योगदान	डॉ. रवीन्द्र सिंह राठीइ	106-110
उत्तराख्ययन सूत्र की कथाओं में निहित मानवीय संवेदना का प्रतिपादन	डॉ. वंदना मेहता	111-119
वनस्पतिकाय का शारीरिक उपकार	सम्पूर्ण ज्योतिप्रज्ञा	120-126
गौंधीवादी चिन्तन में नारी विकास	भारती कंवर	127-136

गीता का ज्ञानयोग

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

गीता एक ऐसा आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें संसार सागर से पार होने के लिए तीन मार्ग बतलाये गये हैं- कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग एवं ज्ञान मार्ग। आचार्य शंकर तो गीता को ज्ञान मार्ग प्रधान ग्रन्थ बताते हैं। उनके अनुसार मोह रूपी अज्ञानता के पाश में जकड़े हुए अर्जुन को भगवान कृष्ण ने ज्ञानरूपी प्रकाश से अवगति प्रदान की। अर्जुन जब कुरुक्षेत्र के मैदान में शत्रु सेना में पिलाभट्ट, गुरुप्रवर, मामा, ताऊ, बन्धु-बन्धवों को देखता है तो अपना माण्डवीय धनुष रख देता है तथा कर्तव्यविमुख हो जाता है। युद्ध भूमि में युद्ध का नाटक यदि स्वेच्छा से शर्यत्विहीन हो जाये तो जो विषमस्विति उत्पन्न हो जाती है, उसी स्थिति से पाण्डवों की सेना को संरोकार लेना पड़ा। यह तो अच्छी बात थी कि सारथी के रूप में उनके साथ साक्षात् भगवान कृष्ण थे किन्तुभे तरह-तरह के ज्ञान से न केवल उनकी अज्ञानता को दूर किया और एक क्षीय को युद्ध रूपी कर्म करने के लिए प्रेरित किया। आचार्य शंकर के अनुसार यदि अर्जुन की अज्ञानता को निवृत्ति न होती तो वह कर्त्तव्य पथ पर कभी अग्रसर नहीं हो सकता था। कृष्ण के ज्ञान रूपी उपदेश ही अर्जुन की अज्ञानता को दूर कर सके थे, अतः गीता में ज्ञान मार्ग श्रेष्ठ है। अतः गीता में ज्ञान मार्ग के शैश्वर्य को उकेरा गया है ताकि अज्ञानरूपी अन्धकार से जनमानस को निवृत्ति मिले और ज्ञान मार्ग से यह शाश्वत तक्ष्य को पार कर सके।

ज्ञानमार्ग की प्राचीनता

प्रश्न यह उठता है कि गीता में जिस ज्ञान मार्ग की महिमा को उकेरा गया है, वह शाश्वत है या अशाश्वत? क्या अर्जुन को दिये गये कृष्ण के उपदेश सनातन हैं? भगवान कृष्ण के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही इस ज्ञान के उपदेश को मीने सर्वप्रथम सूर्य को दिया था। सूर्य के पिता इम अपनी सृष्टि की कल्पना नहीं

कर सकते। सूर्य ने वही उपदेश मनु को दिया और मनु ने राजा इक्ष्वाकु को दिया। कदा भी गया है-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्त्वा नरप्रव्यायम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुश्चिश्वाकवेऽब्रवीत् ।।'

शास्त्रों में सूर्य को बुद्धि का अधिष्ठाता माना गया है। इन कारण से वह ज्ञान का स्रोत है। इसलिए श्रीकृष्ण सूर्य को ही ज्ञान ग्रहण करने वाला प्रथम तत्त्व बताते हैं। श्रुति का प्रतीक सूर्य है, जो निरासक्त होकर लोक कल्याण के लिए कार्य करता है। मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप कर्तव्य पालन की शिक्षा दी तथा इक्ष्वाकुवंशीय राजा राम भी धरा पर गीता के ज्ञान के उपदेश को सार्धक किया। अतः गीता का ज्ञान कोई नयी घटना नहीं है। भारतीय परम्परा किसी भी ज्ञान का कोई आदि नहीं मानती, वेद भी अनादि है। गीता का ज्ञान भी अनादि है। यह प्राचीन ज्ञान काल क्रम से मन्द होता गया। मशरुभारत के युद्ध में अर्जुन ने एक ऐसा अवसर उपस्थित कर दिया कि श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से पुनः वह ज्ञान प्रस्फुटित हुआ।

योग्य शिष्य को ज्ञान

गीता का ज्ञान किसी कुपात्र के लिए नहीं है। अर्जुन जैसे सुपात्र के लिए है। वही कृष्ण युद्ध रोकने के लिए कौरव नरेश धृतराष्ट्र और पुत्रराज दुर्योधन के पास जाते हैं। उन्हें भी सम्मार्ग पर जाने के लिए प्रेरित करते हैं किन्तु अहंकार के दायानल में जल रहे दुर्योधन पर इसका कोई असर नहीं पड़ता। अहंकारजनित अज्ञानता के बशीभूत होकर वह यहाँ तक कहता है कि - 'सूष्याय नैव सत्यायामि दिनः युद्धेन केशवः, अर्थात् हे केशव! आप पांच पाद की बात कर रहे हैं, मैं तो पाण्डवों को सूर्य की नोक के बराबर अभीन नहीं दूँगा। यहीं नहीं उसने ज्ञान के प्रतीक श्रीकृष्ण को बांधने का दुस्ताहस भी किया। अहाँ भक्ति भाव नहीं, जहाँ विज्ञान भाव नहीं, जहाँ शिष्यत्व भाव नहीं वहाँ ज्ञान अवलोकित कैसे हो सकता है? अर्जुन मोहासक्त हुआ, अज्ञान के पाश में जकड़ गया किन्तु अपने भक्तिभाव, विज्ञानसुभाव और शिष्यत्व भाव के कारण वह ज्ञान को तब तक ग्रहण करता गया जब तक उसका मोह दूर नहीं हुआ। वीर-वीर्य में प्रति प्रथम भी फुलता गया और गुरु के द्वारा प्रश्न-प्रतिप्रश्न पूछने की श्रेया भी मिलती रही। श्रीकृष्ण तो अर्जुन को प्रश्न करने के लिए प्रेरित करते रहे-

'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'

ज्ञान के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए शिष्य को विनम्रता पूर्वक गुरु से प्रश्न-प्रतिप्रश्न करते रहना चाहिए। श्रीकृष्ण ने गीता के ज्ञान को रहस्य कहा है। प्रश्न होता है कि इस ज्ञान में रहस्य क्या है? रहस्य वह है कि कृष्ण के उपदेश में तीन बातें कहीं नवी-प्रथम कर्म करते हुए बन्धन को प्राप्त करता, द्वितीय कर्म त्याग करता और तृतीय महत्सपूर्ण तुलसी प्रशा-समीक्षित शोध चरिका, जनवरी-जून, 2016 अंक - 169-170 □ 87

बाल यह है कि कर्म करते हुए भी बन्धन को प्राप्त न करना अर्थात् निष्काम कर्म करना ।
रहस्य यही है कि कर्म भी करो और बन्धन मुक्त बनो ।

ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता

गीता में अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख करते हुए ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । अन्य यज्ञों में द्रव्य अर्थात् अर्थ की अपेक्षा रहती है । प्रायः यज्ञों में दक्षिणा दिया जाता है, गरीबों को दान दिया जाता है और अपनी प्रिय वस्तु दान में दी जाती है । कठोरनिषद में ऐसे ही गाय दान का उल्लेख है । गायों में कुछ गाएँ बन्ध्या तथा दूध न देने वाली धी जिसका प्रतिकार नाशिकता में किया था ।¹ अन्य यज्ञों में गरीबों एवं असहजों को दान दिया जाता है किन्तु ज्ञान यज्ञ में किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं होती है तथा द्रव्य विहीन ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है । कहा गया है-

“श्रयान्द्रव्यमप्रापद्वाज्ञानयज्ञः परन्मप ।

सर्वं कर्माञ्जितं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥१”

अर्थात् हे परन्मप अर्जुन ! द्रव्य द्वारा किये जाने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है । सारे कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में समाहित हो जाते हैं ।

इस प्रकार के ज्ञान का परिणाम है मोह की निवृत्ति । अर्जुन को भी ऐसे ही ज्ञान की अपेक्षा थी । परिजनों के मोह में जकड़े अर्जुन को ज्ञान के द्वारा मोह से मुक्ति दिलाना था । इसलिये कृष्ण कहते हैं-

यज्ञज्ञाना न पुनर्मोहमेवं यास्यति पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रव्यस्यात्मन्यथो मयि ॥²

अर्जुन ! तुम उस ज्ञान को प्राप्त करके फिर कभी भी मोह में नहीं फँसेंगे । उस ज्ञान के द्वारा तुम पूर्ण रूप से सभी प्राणियों को अपने में और मुझ में देख लगेगें । इशोपनिषद में भी स्पष्ट कहा गया है कि जिस साधक के लिए समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही जाता है, कोई अपना पराया नहीं रहता है तथा उनके लिए न कोई मोह रह जाता है और न ही कोई शोक । वह सर्वथा एकरूप, एकसत्, एक शेष बाला हो जाता है । उसको भद्रदृष्टि समाहित हो जाती है-

“यस्य सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।

सब को मोहः क शोक : एकत्वमनुपश्यतः ॥१”

ज्ञान का वैशिष्ट्य इस रूप में भी है कि इसके प्राप्त होने से समस्त कर्मफल नष्ट हो जाते हैं । यह ज्ञान उसी तरह से सारे कर्मों को नष्ट कर देता है जिस प्रकार आग सभी प्रकार के भूखन को समाप्त कर देता है-

तुलसी प्रज्ञा-समीक्षित शोध पत्रिका, जनवरी-जून, 2016 अंक - 169-170

यथैवापि सविद्योऽग्निर्मस्यसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ १ ॥

अर्थात् ज्ञान से सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में प्रायः तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं - प्राकृत्य कर्म, सीधत कर्म, संवीचमान कर्म। प्राकृत्य कर्म वह कर्म है जिसके परिणाम मिलने शुरू हो गये। इस कर्म को अवलब्ध नहीं किया जा सकता। सीधत कर्म वे कर्म हैं जिनका संघट्ट हो चुका है किन्तु परिणाम मिलना शेष है और संवीचमान कर्म वे कर्म हैं जिनका वर्तमान में संघट्ट किया जा रहा है। ये तीनों प्रकार के कर्म अज्ञान जनित हैं। अज्ञानता से तात्पर्य कर्तृत्व के अभिमान की अज्ञानता। मैं कर्म करता हूँ - यह अज्ञानता है जबकि कर्म वस्तुतः प्रकृति में हो रहे हैं। इस प्रकार के ज्ञान से कर्तृत्व भाव का वन्दन नहीं होता और सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मों एवं विषाकों से बह मुक्त रहता है। अतः अज्ञानता की निवृत्ति आवश्यक है क्योंकि अज्ञानी, अज्ञानरहित और संशययुक्त व्यक्ति नष्ट हो जाता है। संशय युक्त व्यक्ति के लिए न यह लोक, न परलोक तथा न कोई सुख मिलता है। नीता कइती है-

“अज्ञानाश्चद्वैद्यानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ १ ॥”

‘ज्ञान सच्चिन् सशायम्’ अर्थात् ज्ञान से ही समस्त प्रकार के संशय नष्ट होते हैं।

ज्ञान इसलिए भी श्रेष्ठ है कि सभी प्रकार की इन्द्रियों को बंध में रखने वाला अज्ञानवान व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान का परिणाम बहुत ही सुखद है। नीता कहती है कि ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तत्काल ही परमशान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति होती है-

“अद्धावाल्मज्जपते ज्ञानं तत्परः संयतोन्द्रियः ।

ज्ञानं तद्ध्या परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ १ ॥”

अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि ज्ञान से पवित्र इस संसार में कुछ भी नहीं है और उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने को बाद योगसिद्ध व्यक्ति अपने आपको प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे अस्वाभावोप ही जाता है फिर उसे कुछ जानने, सुनने, समझने की जरूरत नहीं पड़ती है।

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिदं विद्यते ।

तत्स्वयं योगसत्सिद्धः कालेनात्पनि विन्दति ॥ १ ॥”

इस आत्मज्ञान से समस्त प्रकार के अज्ञान नष्ट हो जाते हैं और यह ज्ञान सूर्य के समान परमात्मा को प्रकाशित करता है-

“ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवन्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम ॥ १ ॥”

ज्ञान और समदर्शिता

ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति समदर्शी होता है। वह भेदभाव से ऊपर उठ जाता है। अद्वैत दृष्टि का विकास होने से उसे यत्र-तत्र-सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टि गोचर होता है। नीता कलती है कि विद्या और विनय अर्थात् चारित्र्य से सम्पन्न ब्रह्म ही, गाय हो, हाथी हो, कुत्ता या चाण्डाल ही क्यों न हो, ऐसे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसलिए उसकी दृष्टि में कहीं भी भेदभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह सबत्र समदर्शी होता है-

‘विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गति हस्तिनि

शुनि वेव श्वपाके च पाण्डिताः समदर्शिनः।।’¹¹

द्विदेवी मनुष्य भोगों में नहीं रहता। जिसका आत्मज्ञान प्रबल होता है उसे किसी प्रकार के भोग (इहलोक एवं परलोक) आकृष्ट नहीं कर पाते। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति अनुकूलता एवं प्रतिकूलता से ऊपर उठ जाते हैं। अनुकूल स्थिति उन्हें आनन्दित नहीं करती और न ही प्रतिकूल स्थिति में वे उद्विग्न होते हैं। ऐसा ज्ञानी समदर्शी ही नहीं समभावी भी होता है। कैसी भी स्थिति हो वह विचलित नहीं होता। हर स्थिति में सम रहने का वह अभ्यासी हो जाता है-

न प्रहृष्यन्निप्य प्राप्य नोद्विजेद्याप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसमूहो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितिः।।’¹²

द्वैत जब छूटता है तो अहं, त्वं का भेद भी नहीं रह जाता है। इस स्थिति में न पाप रहता है और न पुण्य ही। सारे कल्पव्य क्षीण हो जाते हैं। उस स्थिति में शरीर, मन और बुद्धि स्वतः संयमित हो जाते हैं और परम सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। इसी स्थिति में पहुँचा व्यक्ति ऋषि कहलाता है। उसका अहम भिद गया, यही निर्वाण है और वह ब्रह्म को प्राप्त हो गया, यही ब्रह्म निर्वाण है-

‘‘लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमुपयः क्षीणकल्पवाः।

दिग्निर्देवा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।’¹³

अस्तु यठ समभाव, समदर्शिता आत्मज्ञान से ही संभव है।

ज्ञानी के गुण

गीता के तेरहवें अध्याय में ज्ञानी के गुणों का वर्णन किया गया है। ज्ञानी निरभिमानो, निरंकारो, निरक्त और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में सम रहने वाला है। ज्ञानी का प्रथम गुण निरभिमानिता है। ज्ञानी के लिए सबकी आत्मा समान है तो कौन किस पर अभिमान करेगा। अभिमान तो प्रायः उच्च का निम्न लोगों के प्रति होता है। किन्तु जब सबकी आत्मा समान है, एक वैसी है तो अभिमान के लिए कोई अवकाश नहीं है। निरभिमानो में दम्भ के अभाव के साथ अहिंसा, क्षमा, आर्द्रव, शुद्धि, स्थिरता तथा आत्मसंयम का स्वतः विकास होता है-

‘‘अमानित्व मदभिपत्यमहिंसा क्षान्तिरार्द्रवम्।

आचार्योपामर्न शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।’¹⁴

सुलसी द्रव्या-ममीशित द्रोण्य परित्रका, जन्वरी-न्त, 2016 अंक - 169-170

ज्ञानी कभी हिंसक नहीं हो सकता क्योंकि वह जानता है जो कि आत्मा भरे में है वहीं दूसरों में है। यदि वह दूसरों का घात करेगा तो वह अपना ही घात होगा, दूसरों को कष्ट देगा तो वह अपने पर ही होगा, वह दूसरों पर गुस्सा करेगा तो वह अपने ऊपर ही होगा, वह दूसरों के प्रति क्रुद्धता करेगा तो वह अपने ऊपर ही होगा। अतः ज्ञानी अहंता का पोषक होता है। यही कारण है कि वह क्षमावान होता है। वह सतल होता है। उसका जीवन सुजी खिन्नाव होता है। कहीं से भी कोई पन्ने पलटे जा सकते हैं। उसके जीवन में कहीं कोई दुःख या दुःभाव नहीं होता है। वह आचार्य अर्थात् गुरु की उपासना करता है। ज्ञानी के लिए गुरु सर्वोपरि है। 'गुरु द्विन ज्ञान कर्ता' को वह करितार्थ करता है। वह इसलिए भी निराश्रमनी है कि यह गुरु को सर्वोपरि समझता है। कोई अहंकारी अपने से श्रेष्ठ किसी दूसरे को नहीं समझ सकता। श्रुतिक ज्ञानी गुरु को महत्त्व देता है। अतः वह निरहकारी भी है। ज्ञान की आराधना में कभी-कभी निराशा भी मिलती है। अतः गुरु भक्त को इस निराशा से बाहर निकलने में कोई समस्या नहीं आती है। ज्ञानी में श्रुद्धि का गुण है। ज्ञानी अपने व्यवहार में श्रुद्धि या पवित्रता रखता है अर्थात् कोई भी अनुचित साधन नहीं अपनाता तथा कभी भी उसके आचरण एवं व्यवहार से किसी को कोई कष्ट नहीं होता। वह विषम से विषम परिस्थिति में अडिग एवं अचंचल रहता है। परिस्थितियों केंसी भी हो ज्ञानी के व्यक्तिगत को डिगा नहीं सकती। यह अनासक्त भाव से सप्त-विषम परिस्थितियों का मुकाबला करता है। कभी परिस्थितियों को अपने आप को नियंत्रित नहीं कर पाता और उसका गुस्सा दूसरों पर फूट पड़ता है जिसके कारण उसे नुकसान उठाना पड़ता है किन्तु ज्ञानी शीर, गम्भीर होकर अपने आप पर नियन्त्रण रखता है। वह आत्म संयमी है। ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों में संयम रखता है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख के दोष का ज्ञान करता है। पुत्र, स्त्री, गृह आदि में अनासक्ति रखता है। इष्ट और अलिष्ट में चित्त को सम रखता है। उसकी भक्ति अनन्य होती है। वह एकान्तप्रिय होता है। भीड़भाड़ में उसकी कोई रुचि नहीं होती है। भीड़ में हम अपने को भुला सकते हैं किन्तु ज्ञान तो निरन्तर आत्मसृष्टि की अपेक्षा रखता है। सत्य की यात्रा जो अकाले ही करनी पड़ती है। वस्तुतः परमार्थतः हम अकाले ही हैं। भीड़ तो व्यवहार से जुड़ी हुई है। ज्ञान का सम्बन्ध परमार्थ से है। ज्ञानी परमार्थी होता है-

“मयि ध्यानयोगेन भक्तिरव्यभिचारिणि ।

विदित्सतेश्वरतोयत्त्वमतीर्जन संसदि ।”¹³

अन्त में गीता इन सारे गुणों को ज्ञान ही कह देती है। ज्ञान से ये गुण उत्पन्न होते हैं। अतः कारण से कार्य का उपचार करके गुणों को ज्ञान ही कर दिया गया है। यही दृष्टि गीता को व्यावहारिक बना देती है। चाहे भक्ति हो, चाहे ज्ञान, आचरण का महत्व सर्वत्र है। गीता में ज्ञान की कसौटी आचरण है। यदि ज्ञान सच्चा है तो यह नहीं हो सकता कि यह व्यक्ति के आचरण में न उतरे।¹⁴

गुलमी प्रज्ञा-समीक्षात शोध पत्रिका, जनवरी-जून, 2016 अंक - 169-170

ज्ञान का चरम लक्ष्य

ज्ञान का लक्ष्य अमृतत्व की प्राप्ति है। उपनिषदों में उल्लेख है कि मित्रेयी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि क्या वह घन के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति कर लेगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि घन के द्वारा किसी अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती। अमृतत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। गीता के अनुसार -

“त्रैयं घनत्ववक्ष्यामि यज्ज्ञानामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तान्मासदुष्यते ॥”¹¹

इसलिए श्रीकृष्ण ने ज्ञान का परम लक्ष्य अमृतत्व को माना है। ज्ञान से तत्पर्य ब्रह्मज्ञान से है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को एकमात्र परमार्थ सत्, अद्वय स्वरूप माना है।¹² ब्रह्म की गीता सत्, असत् से परे मानती है। सामान्यतः हम किसी को सत् या असत् मानते हैं किन्तु ब्रह्म न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। जब वह सदा से है, सदा रहता है तो उसे सत्, असत् से परे कहना सार्थक है। ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य अमृतत्व इसलिए भी है कि उसके प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं होता है। ब्रह्म को जानने वाला सब कुछ जान लेता है। 'ब्रह्मविद् सर्वं विद्'। जो सब कुछ जान लेता है वह ब्रह्ममय हो जाता है।¹³ गीता के अनुसार ज्ञानी जब परमात्मात्म हो जाए तो यही स्थिति उसे अमृतत्व भी प्रदान कर देती है। अतः ज्ञान का सर्वोच्च लक्ष्य अमृतत्व की प्राप्ति है।

ज्ञान के प्रकार

गीता में गुरुओं के आधार पर तीन प्रकार के ज्ञान का उल्लेख है- सात्त्विक ज्ञान, राजसिक ज्ञान एवं तामसिक ज्ञान।

सात्त्विक ज्ञान के संदर्भ में गीता कहती है-

“सर्वभूतेषु देहेकं भावमव्ययमीशते ।
अविभक्तं विभक्त्येषु तज्ज्ञानं विद्वि सात्त्विकम् ॥”¹⁴

अर्थात् जिस ज्ञान में अलग-अलग प्राणियों में एक अविनाशी भाव को अविभक्त रूप में देखता है, उस ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान समझना चाहिए।

राजस ज्ञान वह ज्ञान है जिसके द्वारा व्यक्ति जब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नामा भावों को देखता है। गीता कहती है-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं मानभाषान्पृथग्विधात् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्वि राजसम् ॥”¹⁵

सामसज्ञान वह ज्ञान है जो एक शरीर को ही सब कुछ समझकर उसमें आसक्त रहता है। वह तर्क विरुद्ध, अतात्त्विक और तुच्छ ज्ञान है। कहा गया है-

तुलसी प्रज्ञा-समीक्षण शोध पत्रिका, जनवरी-मून, 2016 अंक - 169-170

“यसु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्रतमहितुकम् ।
अतन्नाथवदन्तं च तत्तामामसमुदाहृतम् ॥”

संक्षेप में सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक तीन कर्म हैं। सात्त्विक कर्म पारमार्थिक ज्ञानपूर्वक होते हैं। राजसिक कर्म लौकिक ज्ञानपूर्वक होते हैं तथा तामस कर्म अज्ञानपूर्वक होते हैं। सात्त्विक ज्ञान में ‘मै’ और ‘तू’ का भेद नहीं रहता, राजसीज्ञान में ‘मै’ और ‘तू’ दोनों रहते हैं किन्तु तामसी ज्ञान में केवल ‘मै’ ही रह जाता है। सात्त्विक ज्ञान शिष्यता में एकत्व की अनुभूति है। इस ज्ञान से सम्पन्न साधक किसी कर्म के प्रति आसक्ति नहीं रखता, न किसी कर्म फल की इच्छा रखता है। वह तो निष्काम कर्म करता है। अतः सात्त्विक ज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, पूर्व ज्ञान है, ब्रह्मज्ञान है, परमसत्ता का ज्ञान है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता का ज्ञान अनादिकाल से है। इस ज्ञान की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। यहाँ ज्ञान के लिए पापता का भी निवारण है। कुपात्र की ज्ञान नहीं हो सकता। तीन ज्ञान की चर्चा के साथ श्रेष्ठ ज्ञान ब्रह्म ज्ञान को माना गया है। परमसत्ता के ज्ञान के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। सकामकर्म छूट जाता है, कल्पन निर्गोहित हो जाता है और अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही गीता के ज्ञान का रहस्य है।

संदर्भ सूची

- | | |
|--|--|
| 1. भगवद् गीता, 4/1 | 2. कठोपनिषद् कथा |
| 3. भगवद्गीता, 4/33 | 4. वर्तों, 4/35 |
| 5. ईशोपनिषद्, 1/2/13 | 6. भगवद्गीता, 4/37 |
| 7. वर्तों, 4/40 | 8. वर्तों, 4/29 |
| 9. वर्तों, 4/38 | 10. वर्तों, 5/16 |
| 11. वर्तों, 5/18 | 12. वर्तों, 5/20 |
| 13. वर्तों, 5/25 | 14. वर्तों, 13/7 |
| 15. वर्तों, 13/10 | 16. श्रीमद्भगवद्गीता विपुल भाष्य, दयानन्द पार्थिव, पृ. 948 |
| 17. भगवद्गीता, 13/12 | 18. ब्रह्मसूत्र शा.भा., एकमेवपरमार्थसत अद्वयं ब्रह्म |
| 19. ब्रह्मसूत्र शा.भा., ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति | |
| 20. भगवद्गीता, 18/20 | 21. वर्तों, 18/21 |
| 22. वर्तों, 18/22 | |

निदेशक:

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
वैद्य विभव भारती संस्थान, लाडनू (राज.)

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-1



अंक-01



त्रैमासिक



जनवरी-मार्च, 2016

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	व्याकरणमहाभाष्य में विवेचित औषधि एवं चिकित्सा पद्धति	प्रो. सत्यप्रकाश दुबे	06-10
02.	भगवद्गीता का भक्ति योग	प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'स्लेश'	11-16
03.	वस्तु -शब्द मैत्री का कवि - भवानी प्रसाद मिश्र	डॉ. ममता खांडल	17-21
04.	भारत में सामाजिक न्याय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	22-33
05.	अध्यात्म एवं विज्ञान से चरित्र निर्माण और वैश्विक शान्ति	प्रो. कंचन शर्मा	34-36
06.	स्त्रीत्व को आवाज देती आज की नारी	सुश्री दिव्या सिंह	37-40
07.	Nonviolence and Peace Education	Prof. Anil Dhar	41-46
08.	Distance Education and Women in India	Tilak Raj Sharma, Mohd. Alyas	47-57

भगवद्गीता का भक्ति योग

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है। इसका अर्थ 'सेवा करना' है। 'भज्' भजन अर्थात् आराधना करने अर्थ में भी है। जब भक्त सेवा या आराधना के द्वारा भगवान से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो इसे ही गीता में 'भक्तियोग' कहा गया है। नारद के अनुसार भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। शांडिल्य के अनुसार परमात्मा की सर्वोच्च-अभिलाषा ही भक्ति है। नारद के अनुसार भगवान के प्रति उत्कट प्रेम होने पर भक्त भगवान के रंग में ही रंग जाते हैं। यह प्रेम में इतना मदमस्त हो जाता है कि इसे भगवान के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता है। भगवान के प्रति उसका अनुराग इतना तीव्रतम होता है कि उसे पत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान ही दृष्टिगोचर होते हैं। भक्ति में भक्त अपने आपको परमात्मा में विलीन कर लेता है। परमात्मा से पृथक् उसे कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

नारदसूत्र में भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

अर्थात् भगवान के गुणों को सुनना, गुणगान करना, भगवान को सदैव स्मरण करना, उनके चरणों की सेवा करना, पूजा करना, वन्दना करना, भगवान की दासता स्वीकार करना, उन्हें अपना मित्र या सखा समझना और भगवान के समक्ष अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देना ही नवधा भक्ति है। नारदसूत्र की इस नवधा भक्ति में से भक्त में एक गुण या सभी गुण पर्याप्त हैं। स्वयं भगवान कहते हैं- मैं न तो योगियों के हृदय में वास करता हूँ और न ही स्वर्ग में रहता हूँ अपितु मैं वहीं रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा गुणगान करते हैं।¹² इसीलिए रामानुज जैसे आचार्य भक्तियोग को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार गीता का उपक्रम और उपसंहार अर्थात् आदि और अन्त दोनों ही भक्ति योग हैं। अतः गीता का एक मात्र श्रेष्ठ मार्ग भक्ति योग ही है ऐसा रामानुज मानते हैं। अतः गीता का मुख्य तात्पर्य भक्त का भगवान की शरण में चले जाना है। गीता में भगवान के उपदेश

का प्रारम्भ तब होता है जब अर्जुन भगवान से कहते हैं- मैं मोह में आकण्ट हूँ, मेरा मन भ्रम के भंवर में जकड़ गया है और मुझे अपने हित का आभास नहीं हो रहा है। आप मेरे बन्धु, गुरु, सखा और सर्वस्व इष्ट देव हैं। आप मुझे शिक्षा दें, मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे उचित मार्ग का ज्ञान करावें।³

भक्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक - यह बात सही है कि मनुष्य किसी वस्तु का चाहे जितना भान प्राप्त कर ले या उसके प्रति प्रवृत्त हो जाये किन्तु जब तक उस ध्येय वस्तु के प्रति श्रद्धानिष्ठ नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति में सिद्धि नहीं मिल सकती। अर्थात् अन्तिम सिद्धि श्रद्धा से ही मिलती है। यही बात गीता के परम शुभ तत्त्व आत्मसिद्धि, आत्मलाभ या आत्मसाक्षात्कार के विषय में भी लागू होता है। इसी प्रकार जब तक हम ईश्वर के प्रति श्रद्धावान नहीं होंगे, उसमें हमारी निष्ठा नहीं हो सकती। परमपिता की भक्ति भी परमपिता के प्रति श्रद्धा या आस्था से ही हो सकती है। यों भी कहा जा सकता है कि श्रद्धा साधन है तो भक्ति साध्य है और भक्ति साधन है तो ईश्वर प्राप्ति साध्य है। भगवान कहते हैं कि श्रद्धा तीन प्रकार की है-

‘त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावना।
सात्त्विकी राजसी वैष तामसी चेति तां शुणु।।’⁴

अर्थात् देहधारी जीव द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार उसकी श्रद्धा तीन प्रकार की है- सतो गुणी, रजो गुणी एवं तमोगुणी। इस प्रकार संसार में विभिन्न प्रकार की श्रद्धाएं दृष्टिगोचर होती हैं और विविध प्रकार की श्रद्धाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के धर्म होते हैं। धार्मिक श्रद्धा का असली सिद्धान्त सतो गुण में स्थित होता है। श्रद्धा की विभिन्नता के कारण गीता में पूजा की भिन्नता भी स्वीकार की गयी है, जो इस प्रकार है-

‘यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांध्रान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।’⁵

अर्थात् सतोगुणी श्रद्धावान व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं, रजोगुणी श्रद्धावान यक्षों व राक्षसों की तथा तमोगुणी श्रद्धावान व्यक्ति भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है - ‘सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव - शब्दितम्’⁶ अर्थात् जब व्यक्ति सतोगुणी होता है तो वह वासुदेव की पूजा करता है। तात्पर्य यह है कि जो लोग गुणों से पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और दिव्य पद को प्राप्त होते हैं, वे ही भगवान की पूजा कर सकते हैं तथा सर्वसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जो श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि करते हैं वह नश्वर हैं, वह ‘असत्’ कहलाते हैं और इस जन्म तथा अगले जन्म दोनों को ही व्यर्थ करते हैं-

‘अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तपत् कृतं च यत्।
असदित्यच्यते पार्थ न च तत्फलं नो इह।।’⁷

निर्गुण भक्ति एवं सगुणभक्ति- गीता में दो प्रकार की भक्ति का उल्लेख है- निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति में निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान किया जाता है जबकि सगुण भक्ति में भक्त अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोजन ईश्वर की सेवा में करता है। यहाँ पर अर्जुन कृष्ण से प्रश्न करते हैं कि इन दोनों भक्तियों में कौन भक्ति श्रेष्ठ है? भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परमसत्य परमपूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परमपूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवें अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है वह कृष्ण के घाम तक पहुँच जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान स्पष्ट कहते हैं कि योगियों में जो भी अपने अन्तःकरण से कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता है, वही परमसिद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होकर चरम आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करे। कृष्ण भगवान गीता में स्वयं भी कहते हैं-

‘मध्यावेश्य मनो में मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापरयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।।’⁸

अर्थात् जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं वे मेरे द्वारा परमसिद्धि माने जाते हैं।

इसके विपरीत जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुशरण करता है, वह ज्ञान योगी कहलाता है और जो व्यक्ति भगवान की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहते हैं, वे भक्तियोगी कहलाते हैं। ज्ञानयोग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुंचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक। भक्तियोग भगवान की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है लेकिन आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि अथवा निर्गुण विधि का मार्ग कठिन है। इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना आसान नहीं है। इसलिए निर्गुण भक्ति के स्थान पर सगुण भक्ति अधिक श्रेयस्कर है।

सगुणभक्ति में सर्व समर्पण सम्भव - गीता जिस सगुण भक्ति को श्रेयस्कर मानती है उसमें भगवान के नाम को सुनना, उनके नाम का जाप करना, उन्हें ही याद करना, उनकी सेवा करना, उनकी अर्चना एवं वन्दना करना, भगवान का ही दास बनना और उनका चित्र बनाना तथा उनमें अपने आपको अर्पित कर देना होता है। भगवान का भजन, अर्चना, उपासना, ध्यान आदि करना ही भगवान की भक्ति है। भक्त भगवान के सगुण रूप में ही अनुरक्त रहता है, निर्गुण रूप में नहीं। वह साकार ईश्वर की उपासना करता है, निराकार की नहीं। ज्ञानी ईश्वर को अद्वैत मानता है और भक्त ईश्वर को भगवान समझता है। ज्ञानी ईश्वर को अद्वैत मानता है, आत्मा, परमात्मा को एक मानता है। सारी सृष्टि ब्रह्मरूप होने से वह अपने को ब्रह्म समझता है - अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वगति। किन्तु भक्त ईश्वर की उपासना द्वैत भाव से करता है। भगवान तथा भक्त में भेद है- भगवान पूर्ण है और भक्त अपूर्ण है। भगवान असीम तथा भक्त सीमित है। जब भक्त अपना सब कुछ भगवान के प्रति अर्पित कर देता है तो वह अपूर्ण का पूर्ण के प्रति अथवा सीम का असीम के प्रति समर्पण कहलाता है। गीता में कहा गया है-

“ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥” 9

-अर्थात् जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते

हैं, वे ही मेरे सच्चे भक्त हैं। भक्ति योग का तात्पर्य है 'अनन्यता, परमपूज्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन में न लाना ही अनन्य भाव कहलाता है। गीता में कहा गया है कि अनन्य भाव से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत है और जिस सच्चिदानन्दधन परमात्मा से यह समस्त जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन, अव्यक्त परमपुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है। सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान परमेश्वर में ही सब कुछ समर्पित करके सदा सन्तुष्ट रहना और सब प्रकार से अनन्यप्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर भगवान का स्मरण करना ही अनन्य भक्ति है। अनन्य भक्ति के द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वर को सहज प्राप्त करता है।

अनन्यचित्त पूर्वक अनन्य भक्ति- जैसे भगवान को छोड़कर किसी अन्य में भक्ति नहीं है चाहे वह कितना ही उपयोगी वस्तु या पदार्थ हो उसी प्रकार सम्पूर्ण चित्त को भगवान में लगाना ही अनन्य चित्त है। अनन्य भक्ति को ही गीता में अनन्य चित्त कहा गया है। अनन्य चित्त पूर्वक की गयी भक्ति से ईश्वर प्राप्ति अवश्य होता है। भगवान कृष्ण स्वयं गीता के आठवें अध्याय में कहते हैं-

“अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥10

अर्थात् जो मनुष्य मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ परमेश्वर का स्मरण करता है उस नित्य निरन्तर मुझ में युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। तात्पर्य है कि जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तु में न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेम से परमेश्वर में ही लगा रहता है, वही अनन्यचित्त है। यह सर्वदा भगवान के नाम, रूप, गुण एवं लीला आदि का स्मरण करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। अगर अनन्य चित्त भाव से मुझमें स्थिर नहीं हो सकते तो 'भक्ति योग' के विधि-विधानों का पालन करो। यदि भक्ति योग के विधि विधानों का भी अभ्यास नहीं कर सकते तो मेरे लिए कर्म करने का प्रयत्न करो (पदर्थमपि कर्माणि)। यदि तुम सम्पूर्ण भाव पूर्वक मेरे लिए कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम समस्त कर्मफलों को त्यागकर (सर्वकर्म फलत्याग्यं) कर्म करने

तथा आत्मस्थित होने का प्रयत्न करो। गीता में कृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे। अर्थात् अपने चित्त एवं बुद्धि को भगवान में लगाने से भक्त सदैव भगवान में वास करता है। कहा गया है-

“मय्येव मन आधत्स्व मायिबुद्धिं निवेश्य।

निवसिस्वसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।”11

भक्तियोग में प्रिय भक्त की पहचान-

जैसे भक्त के लिए सबसे प्रिय भगवान होते हैं, वह सर्वात्मना भगवान का ध्यान एवं पूजा करता है वैसे ही भगवान के लिए भक्त भी प्रिय होता है। किस प्रकार का भक्त भगवान के लिए प्रिय है, गीता में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कहा गया है-

“अद्रेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः कलुष एवं च।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुख क्षमी।।

संतुष्टं सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पित मनोबुद्धियोः मद्भक्ताः से मे प्रियः।।”12

अर्थात् जो किसी से द्वेष नहीं करता, सभी जीवों का दयालु मित्र है, जो अपने को स्वामी नहीं मानता और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो सुख-दुःख में समभाव रहता है, सहिष्णु है, सदैव आत्मतुष्ट रहता है, आत्मसंयमी है तथा जो निश्चय के साथ मुझमें मन तथा बुद्धि को स्थिर करके मेरी भक्ति में लगा रहता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

जिससे किसी को कष्ट नहीं पहुँचता तथा जो अन्य किसी को-द्वारा विचलित नहीं किया जाता, जो सुख-दुःख में, भय तथा चिन्ता में समभाव रहता है, वह मुझे प्रिय है।

(यस्मान्नो, द्विजते स मे प्रियः 12/15)

जो सामान्य क्रियाकलापों पर आश्रित नहीं है, जो शुद्ध है, दक्ष है, चिन्तारहित है, समस्त कष्टों से रहित है और किसी फल के लिए प्रयत्नशील नहीं है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

(अनपेक्षः शुचिर्दक्ष.....समेप्रियः 12/16)

जो न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, जो न पडतावा करता है, न इच्छा करता है तथा जो शुभ तथा

अशुभ दोनों प्रकार की वस्तुओं का परित्याग कर देता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

(यो न हृष्यति..... समेप्रियः 12/17)

कृष्ण कहते हैं कि मेरा भक्त सदैव कुसंगति से दूर रहता है। मानव समाज का यह स्वभाव है कि कभी किसी की प्रशंसा की जाती है, तो कभी उसकी निन्दा की जाती है। लेकिन भक्त कृत्रिम वश तथा अपवश, दुःख - सुख से ऊपर उठा हुआ होता है। वह अत्यन्त धैर्यवान होता है। वह भगवान की कथा के अतिरिक्त कुछ नहीं बोलता है, अतः उसे मौनी कहा गया है। मौनी से तात्पर्य कुछ न बोलने से नहीं है अपितु अनर्गल प्रलाप न करने से है। भक्त समस्त परिस्थितियों में सुख की अनुभूति करता है, कभी दुःख की अनुभूति नहीं करता है। सुख-दुःख में सम रहना उसकी आदत है। कभी उसे स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं, किन्तु वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। वह आवास की सुविधा की चिन्ता नहीं करता है। वह कभी पेड़ के नीचे रह सकता है, तो कभी अत्यन्त उच्च प्रासाद में, किन्तु इनमें से वह किसी के प्रति आसक्त नहीं रहता है। वह स्थिर कहलाता है, क्योंकि वह अपने संकल्प तथा ज्ञान में दृढ़ होता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। कहा भी गया है-

“समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

श्रीतोष्ण सुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।

तुल्यनिन्दा स्तुति मौनी सन्तुष्टो येन केन चित्।

अनिकेतः स्थिर मतिः भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।”13

अन्त में प्रिय भक्तों की श्रेणी में अत्यन्त प्रिय भक्त के बारे में गीता कहती है-

“येतु धर्माभूतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।

श्रद्धावानामत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।”14

अर्थात् जो इस भक्ति रूपी धर्माभूत का अनुसरण करते हैं और जो मुझे ही अपना चरम लक्ष्य बनाकर श्रद्धापूर्वक मुझमें लीन रहते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

भक्तियोग में ईश्वर सर्वोपरि - भक्त, भक्ति और ईश्वर की त्रैक भक्तियोग की आवश्यकता है। इनमें से

किसी एक का अभाव भक्तियोग को चरितार्थ नहीं करता। जहाँ भक्त और भक्ति है वहाँ इनका ईष्ट ईश्वर आवश्यक है। ऐसा नहीं हो सकता कि ईश्वर के बिना भक्त और भक्ति का कोई महत्व हो। भक्त का आराध्य ईश्वर है तो भक्त को ईश्वर तक पहुँचने के लिए भक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। भक्ति के बिना ईश्वर तक नहीं पहुँचा जा सकता। भक्ति भी इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका आराधक भक्त का अस्तित्व है। भक्त के बिना भक्ति निष्प्रयोजन है। भक्ति की उपयोगिता भक्त के कारण है। भक्तियोग में भक्त और भगवान का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। तादात्म्य सम्बन्ध में भक्त और भगवान की एकैकरूपता हो जाती है, द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। नीर-शीर की तरह भक्त भगवान की एकरूपता भक्ति योग में मान्य नहीं है। भक्तियोग का महत्व ही इसलिए है कि इसमें भक्त और भगवान में द्वैत बना रहता है। यदि भक्त-भगवान का आत्मैक्यभाव हो जाये तो भक्ति की उपादेयता समाप्त हो जाती है। जबकि भक्ति योग में भक्ति की उपादेयता सदैव बनी रहती है। यहाँ भक्त और सर्वोपरि सत्ता ईश्वर में एकैकरूपता न होकर सामीप्य सम्बन्ध स्थापित होता है। अर्थात् भक्त अपनी श्रद्धापूर्वक भक्ति से ईश्वर के समीप अर्थात् निकटस्थ हो जाता है। रामानुज भक्ति के महात्म्य को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

ब्रह्मणो भावः न तु त्वसूपैक्यम् ॥5

अर्थात् मोक्ष की स्थिति में भक्त में भगवान के गुण आ जाते हैं किन्तु भक्त भगवान नहीं बनता है। अतः भक्ति योग में ईश्वर सर्वोपरि है। उसी को प्राप्त करना भक्तियोग का चरम लक्ष्य है। गीता में भगवान कहते हैं-

“भक्तकर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः सङ्घर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥16

अर्थात् जो पुरुष केवल मेरे लिए सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, अनासक्त है और सभी प्राणियों में वैर भाव से रहित है, वही अनन्त भक्ति सम्पन्न पुरुष मुझको प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वर भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति है।

सर्वात्मना समर्पण भाव - यदि ईश्वर भक्ति की पराकाष्ठा है तो वही भक्त का अन्तिम लक्ष्य है, भक्त का

आराध्य एवं निकष है। भक्त सर्वमना, सर्वभावना, सर्वकर्मणा अपना सर्वस्व ईश्वर में समर्पित करता है। यह समर्पण तीन प्रकार है-

1. **फल समर्पण**- भक्त कर्तव्यकर्म को करता है किन्तु फल को ईश्वर पर समर्पित कर देता है। गीता में कृष्ण अर्जुन को यही सन्देश देते हैं कि बिना किसी फल की चिन्ता किये कर्म करते रहना चाहिए। गीता कहती है-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृति नोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरार्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥”

अर्थात् आर्त (जो पीड़ित है), जिज्ञासु (जो इच्छा रखते हैं), अर्थार्थी (धन चाहते हैं) ज्ञानी (वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जानने वाले), ये सारे लोग मेरी भक्ति करते हैं किन्तु इनकी शुद्ध भक्ति निष्काम होती है और उसमें किसी लाभ की आकांक्षा नहीं रहती। पाश्चात्य दार्शनिक इमेन्चुअल काण्ट भी फल की चिन्ता किये बिना कर्म करने की बात कही थी किन्तु गीता और काण्ट में यही अन्तर था कि जहाँ काण्ट फल की तरफ ध्यान न देने पर जोर देता है वहीं गीता फल को ईश्वर पर छोड़ने पर बल देती है। भगवान को प्रसन्न रखना, भगवान की आराधना करना तथा अपना सर्वस्व भगवान को अर्पित करना ही उसका यथेष्ट है।

2. **भारसमर्पण**- भक्त अपनी रक्षा का भार भगवान पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है। वह पाप-पुण्य आदि की भावना से रहित हो जाता है। भगवान का भक्त प्रह्लाद अभय को प्राप्त था। उसे इस बात का कोई भय नहीं था कि उसका जीवन छतरे में है। जब भक्त की सुरक्षा का भार भगवान पर हो तो भला भक्त को किस बात की चिन्ता?

3. **स्वरूप-समर्पण**- यहाँ भक्त का अपना कोई स्वरूप नहीं रह जाता। वह अपने स्वरूप का त्याग कर भगवान के सम्मुख आत्मसमर्पण करता है, अपने अहंकार को भगवान के स्वरूप में समाहित कर निरहंकारी हो जाता है। अहंकार की निवृत्ति से भक्त भगवान का सामीप्य प्राप्त करता है। अतः वह भगवान से अपने आपको पृथक् नहीं समझता।

भक्तियोग का निहितार्थ शरणागत की रक्षा

भगवान के प्रति अनन्य भाव एवं अनन्यचित होने के साथ-साथ शरणागत की रक्षा की भावना भी भक्तियोग का फलितार्थ है। शरणागत का महत्व बतलाते हुए स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं-

“सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षमिष्यामि मा शुचः।।”¹⁸

अर्थात् सभी धर्मों को छोड़कर तू मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। शरणागत की सुरक्षा की अद्भुत गारण्टी यहां प्रस्तुत है। भक्त के लिए भगवान ही परम-प्राप्य, परमगति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकार से उन पर निर्भर होकर निर्भय हो जाना ही साध्य है।

भक्त के उद्धार के लिए भगवान सर्वदा तत्पर रहते हैं। भक्त सर्वमना भगवान पर आश्रित हो जाता है। जिस प्रकार माता शिशु की रक्षा करती है। उसी प्रकार भगवान भक्त की रक्षा करते हैं। भक्त के उद्धार के लिए ही निर्गुण ब्रह्म सगुण भगवान बन जाता है, राम और कृष्ण आदि रूपों में अवतरित होता है। इन्हीं रूपों में आकर भगवान शरणागत भक्तों की रक्षा करते हैं। गीता कहती है-

‘तेषामहं समुद्धकर्ता मृत्यु संसार सागरात्।’¹⁹

अर्थात् जन्म और मृत्यु के सागर से भक्त की नाव को भगवान ही पार लगाते हैं अर्थात् भक्तों के तारक भगवान ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता के त्रिविध की धारणा में ‘भक्ति योग’ का महत्वपूर्ण स्थान है। जब भक्त अपने अहंकार का त्याग कर अपने आपको सर्वमना भगवान में समर्पित कर देता है और भगवान के शरणों में जाकर अभय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है

तो यही भक्तियोग का फलितार्थ सिद्ध होता है। भगवान भी तारक बनकर भक्त को संसार रूपी भव सागर से सदा सदा के लिए निर्लिप्त कर देते हैं, यही गीता के भक्तियोग का हार्द एवं निकष है।

सन्दर्भ सूची

1. नारद सूत्र, 16/18
2. “नाहं यमामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यजन्त्यान्ति तत्र लिप्यामि नारद।।”
3. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पश्चात्तमि त्वां धर्मं सम्भुङ्क्ष्वेता।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्ने शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां”
प्रपन्नं।
4. भगवद्गीता 17/2
5. वही, 17/4
6. श्रीमद् भागवत 4/3/23
7. भगवद्गीता, 17/28
8. वही, 12/2
9. वही, 12/6
10. वही, 8/14
11. वही, 12/8
12. वही, 12/13-14
13. वही, 12/18-19
14. वही, 12/20
15. श्री भाष्य, 1/1/1
16. भगवद् गीता, 11/55
17. वही, 7/16
18. वही, 18/66
19. वही, 12/17

निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाहूर - 341 806 (राज.)

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-4



अंक-03



त्रैमासिक



जुलाई-सितम्बर 2016

A Peer Reviewed Research Quarterly

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	भाषा का अवतरण : वैज्ञानिक दृष्टिकोण	डॉ. ओश्मू प्रकाश पाण्डेय	6-13
02.	संलेखना का महत्त्व और उसकी सफलता	डॉ. शुद्धात्मप्रकाश जैन	14-18
03.	गीता में परमात्मा (ईश्वर) का स्वरूप	प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'स्लेश'	19-24
04.	ध्यांग-स्वरूप और विनियोग	प्रो. नन्दलाल कल्ला	25-32
05.	कन्या भूणहत्या-परिणाम से समाधान तक	डॉ. विजेन्द्र प्रधान	33-36
06.	विपाक सूत्र अध्ययन की सामाजिक एवं आध्यात्मिक उपयोगिता	डॉ. समणी शशिप्रज्ञा	37-40
07.	श्रीमद्भगवद्गीता में परिवार-प्रबंधन के सूत्र	प्रिया जैन	41-45
08.	Gandhi and Spiritualism	Dr. Anil Dutta Mishra	46-52
09.	Multilingualism pedagogy and its Application for Inclusive Teacher Education Arena: a Thought (With reference to National Policy on Education, 2016)	Dr. Bhabagrahi Pradhan	53-57
09.	पुस्तक समीक्षा	प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'स्लेश'	58

गीता में परमात्मा (ईश्वर) का स्वरूप

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी 'रलेश'

परमसत्ता की विवेचना प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में हुई है। गीता दर्शन में भी सर्व शक्तिमान सत्ता के रूप में परमसत्ता की विवेचना हुई है। इस परमसत्ता को पुरुषोत्तम या परमात्मा की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसे ब्रह्म, वासुदेव, प्रभु, साक्षी, महायोगेश्वर, विष्णु, परमपुरुष आदि नाम से भी यहाँ उल्लेख किया गया है। इसे संसार को उत्पन्न करने वाला, पोषण करने वाला तथा संहार करने वाला माना गया है। गीता में श्रीकृष्ण को ही पुरुषोत्तम अर्थात् ईश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। गीता में भगवान की सर्वोत्कृष्टता व्यक्त की गयी है।

1. भगवान के तीन रूप— गीता में भगवान के तीन रूपों की चर्चा है। जैसे भी भगवान को ब्रह्माण्ड में और ब्रह्माण्ड से परे भी माना गया है। उन्हें ब्रह्माण्ड से परे होने पर अतीन्द्रिय कहा जाता है और ब्रह्माण्ड में होने पर अन्तर्दामी कहा जाता है। उसके तीन रूप— क्षर, अक्षर और परमात्मा हैं। भगवान का परमात्मरूप अन्य दो रूपों से श्रेष्ठ है। यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भगवान का क्षर, अक्षर रूप परमात्मा (पुरुषोत्तम) में ही समाहित है। शंकराचार्य भगवान (ब्रह्म) को निर्गुण कहते हैं तो रामानुजाचार्य भगवान को सगुण मानते हैं किन्तु गीता में दोनों के समन्वय के रूप में परमात्मा को माना गया है। स्वयं कृष्ण कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥¹

अर्थात् इस संसार में दो पुरुष हैं— एक नश्वर और दूसरा अनश्वर। नश्वर (क्षर) वस्तु एवं व्यक्ति है और अनश्वर (अक्षर) अर्थात् कूटस्थ, नित्य सत्ता है। सदा सर्वदा परिवर्तनीय संसार में विद्यमान आत्मा क्षर है और जिसे अक्षर कहा गया है वह नित्य आत्मा है जो अपरिवर्तनशील और जो परिवर्तनशील वस्तुओं में भी अपरिवर्तनशील है।² जब आत्मा इस अपरिवर्तनशील की ओर अभिमुख हो जाती है तब सांसारिक गतिविधियाँ उससे छूट जाती हैं और वह आत्मा अपने अपरिवर्तनशील, नित्य अस्तित्व में पहुँच जाती है। ये दोनों ऐसे परस्पर विरोधी नहीं हैं कि दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता है क्योंकि

ब्रह्म एक और अनेक है। वह नित्य, अजन्मा तथा विश्व के रूप में प्रवहमान है। मूलतः क्षर परमात्मा की सांसारिक अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने अहं से युक्त— मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप से समझता है। सम्पूर्ण संसार का यही क्षर रूप है। यह सांसारिक चैतन्य निरोपाधि नहीं होता है। यहां विभिन्न नाम, रूप आदि उपाधियों का भ्रंश होता है। नाम, रूप, सुख-दुःख आदि की उपाधि इस अवस्था में सर्वदा रहती है। इसके कारण जो अपने को संस्कारी समझता है। सम्पूर्ण संसार का यही क्षर रूप है। अक्षर अवस्था नाम रूपादि, सुख-दुःख से रहित अवस्था है। यह अवस्था जीव की ज्ञात अवस्था है। यह विभिन्न उपाधियों से रहित अवस्था है। यह जीव की उपाधिरहित अवस्था है। इस अवस्था में जीव आत्मस्वरूप में स्थित रहता है। इससे स्पष्ट है कि पुरुष ज्ञात एवं शुद्ध चैतन्य रूप है।

पुरुषोत्तम इन दोनों से भिन्न है। क्षर, अक्षर से परे आत्मा का सर्वोत्तम रूप है। अपनी प्रसन्नता का इजहार करने के लिए ही भगवान ने इस क्षर रूप को उत्पन्न किया है। अपने अक्षर गुणों के कारण वे उदासीन द्रष्टा एवं मुक्त बने रहते हैं। क्षर के रूप में भगवान विश्वलीला में हैं। अक्षर रूप में भगवान विश्वलीला के द्रष्टा है। पुरुषोत्तम के रूप में भगवान अपनी लीला को सार्थक कर रहे हैं। कहा भी गया है—

“यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।”

अर्थात् मैं क्षर और अक्षर से ऊपर हूँ इसलिए इस संसार में और वेद में मैं ही पुरुषोत्तम माना जाता हूँ

यह परमात्मा विश्व में व्याप्त भी है और परे भी है। भगवान का यह पुरुषोत्तम रूप अन्य दो रूपों से भिन्न है। इस पुरुषोत्तम में द्रष्टा और दृश्य तथा ज्ञाता और ज्ञेय का लोप हो जाता है। इस नियन्ता को नियमित नहीं किया जा सकता। प्रकाश स्वरूप इसके प्रकाशन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जो भगवान के इस पुरुषोत्तम रूप को जानता है, वही सच्चा भक्त है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हो चुका है, वह इस संसार को अक्षर या नश्यर समझता है। उसके लिए यह

जगत मिथ्या है जो द्वैत से मुक्त है तथा जगत में एकमात्र सर्व व्यापक, स्वयंसिद्ध, सच्चिदानन्द को देखता है और स्वयं अपने आपको उसी का स्वरूप समझता है, वही परमात्मा की सच्ची भक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार भगवान के पुरुषोत्तम रूप को समझने वाला ही सच्चा भक्त है। वही अनन्यभाव से भगवान की भक्ति करता है—

“यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।।”

शंकराचार्य ने परिवर्तनशील (क्षर) की व्याख्या इस परिवर्तित होते हुए संसार के रूप में और अपरिवर्तनशील (अक्षर) की व्याख्या माया-शक्ति या ईश्वर की शक्ति के रूप में की है और ब्रह्म को नित्य, शुद्ध, बुद्ध और क्षर और अक्षर की परिमितियों से मुक्त बताया।

रामानुचार्य ‘अक्षर’ का अर्थ मुक्तात्मा से लेते हैं। इस संसार में दो सार तत्त्व हैं जिनमें एक आत्मा तथा दूसरा जड़ है। ये दोनों क्रमशः अक्षर एवं क्षर हैं। इन दोनों से ऊपर परमात्मा है, जो विश्व से परे है और साथ ही विश्व में व्याप्त भी है। ये दोनों परमात्मा की प्रकृति हैं। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि अक्षर से अतीत परम पुरुष परमात्मा है।

परमात्मा की दो प्रकृति— परमात्मा की परा एवं अपरा ये दो प्रकृतियां गीता में स्वीकार की गयी हैं। अपरा प्रकृति भगवान की निकृष्ट प्रकृति है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान की अपरा प्रकृति है। आठ तत्त्वों से बनी हुई होने के कारण अपरा प्रकृति को ‘अष्टधा’ भी कहते हैं। यही सृष्टि का क्रम है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पांच महाभूत हैं। इन पांच महाभूतों की पांच तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध हैं। प्रकृति इन आठ तत्त्वों से युक्त होकर अव्यक्त रूप से रहती है—

“भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।”

अर्थात् हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार— ये आठ प्रकार की मेरी अपरा प्रकृति है। गीता की यह प्रकृति सांख्यकी प्रकृति की तरह स्वतन्त्र नहीं है।

दूसरी प्रकृति परा प्रकृति है। यह अपरा से श्रेष्ठ है। अतः यह भगवान की श्रेष्ठप्रकृति के रूप में जानी जाती है। यह जीव रूप है। कहा गया है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो यवेदं धार्यते जगत् ॥'

हे अर्जुन! मेरी इस दूसरी जीव रूपी प्रकृति को परा जानो, जिसके द्वारा यह जगत धारण किया जाता है। गीता में अपरा प्रकृति को क्षेत्र तथा परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। अपरा प्रकृति जड़ है तथा परा प्रकृति चेतन है। ये दोनों प्रकृति परमात्मा के शरीर एवं आत्मा हैं। परमात्मा इन दोनों से ऊपर है। ये दोनों प्रकृति परमात्मा की ही अभिव्यक्ति हैं। परन्तु परमात्मा इन दोनों से अधिक व्यापक है। संसार रूपी वृक्ष का उद्गम परमात्मा है।

यह संसार एक वृक्ष की तरह है। इसकी जड़े ऊपर है और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं। कठोपनिषद में भी ऐसा ही कहा गया है कि यह विश्व वृक्ष शाश्वत है जिसकी जड़े ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। तैत्तरीय उपनिषद में भी कहा गया है कि भगवान संसार वृक्ष के मूल है। गीता और कठोपनिषद के अश्वस्थवृक्ष में साम्य है। गीता कहती है—

“ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वस्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दासियस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥”

अर्थात् लोग उस अनश्वर अश्वस्थ (पीपल का पेड़) के विषय में बताते हैं, जिसकी जड़े ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। उसके पत्ते वेद हैं और जो इस बात को जान लेता है, वह वेदों का ज्ञाता है। महाभारत में भी विश्व की प्रक्रिया की तुलना एक वृक्ष से की गयी है, जिसे कि ज्ञान की मजदूत तलवार द्वारा काटा जा सकता है। इस वृक्ष का उद्गम परमात्मा से होता है इसलिए यह कहा गया है कि इसकी जड़े ऊपर हैं क्योंकि यह संसार के रूप में फैलता है इसलिए इसकी शाखाएँ नीचे की ओर नहीं जाती हैं। यह संसार एक जीवित शरीर है जो भगवान के साथ संयुक्त है।

गीता में ईश्वर को परमात्मा रूप, पुरुषोत्तम रूप माना गया है। जो समूचे विश्व का आधार है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि— मुझसे परे और कुछ नहीं है। धागों में पिराये

हुए मणियों के समान मुझ में सब कुछ गुंथा हुआ है। जल का रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा मैं हूँ। जल का पीरूप मैं हूँ। मैं पृथ्वी में गन्ध हूँ, अग्नि में तेज हूँ। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज और शक्तिशालियों की शक्ति हूँ। सब भूतों में धर्मानुकूल काम हूँ—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पीरुषं नृषु ॥

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चामि विभावसौ।

जीवनं सर्वं भूतेषु तपश्चामि तपस्विषु ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

बुद्धिर्वृद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविचर्जितम्।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥”

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि जितने भी भाव है, चाहे वे लयात्मक (सात्विक), आवेशपूर्ण (राजस) या आलस्यपूर्ण (तामस) हों, वे सब केवल मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, इस बात को तुम समझ लो। मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं—

“ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि” ॥

स्पष्ट है कि सत्, रज एवं तम से बनी हुई कोई भी वस्तु परमात्मा से पृथक नहीं है और न ही स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर ही है। ये सब परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं। वह इन सबको अपने अन्दर रखता है और इनमें व्याप्त है जबकि ये वस्तुएँ उसे अपने अन्दर नहीं रखती और उसमें व्याप्त नहीं है। परमात्मा और उसके प्राणियों में यही भेद किया गया है। वह किसी के अधीन नहीं है, सब उसके अधीन है।

अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान सत्ता है। वह अनादि और अनन्त है। वस्तुएँ उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। ईश्वर अविनाशी है क्योंकि वह अजन्मा है। वह उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है। वह अद्वितीय है। किसी अन्य ईश्वर की सत्ता मानने पर उसकी सर्व शक्तिमत्ता को खतरा है। अतः वह एक है। वह पूर्ण है। वह आप्तकाम है। वह जगत का कर्ता, धर्ता एवं हर्ता है, किन्तु जगत में होते हुए भी वह जगत के परे भी है। ईश्वर के दो रूप हैं— विश्व रूप एवं विश्वातीत रूप। गीता में दोनों रूपों का

वर्णन मिलता है। गीता में कृष्ण कहते हैं- मैं ही इस संसार का माता-पिता हूँ, संभालने वाला और पितामह हूँ। मैं ज्ञान का लक्ष्य हूँ, पवित्र करने वाला हूँ। मैं ओंकार हूँ, ऋक्, यजु एवं सामवेद मैं ही हूँ। मैं ही यज्ञ, यज्ञ की अग्नि एवं आहुति हूँ। मैं सबका पोषक हूँ, प्रभु और साक्षी हूँ, निवास स्थान हूँ, शरण हूँ और मित्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और विनाश हूँ, मैं ही स्थिति हूँ, मैं ही विश्राम स्थान हूँ और अनश्वर बीज हूँ-

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेवम्।।
गतिर्मर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।¹⁴

यह सब ईश्वर का विश्वरूप है। इसके अतिरिक्त ईश्वर का विश्वातीत रूप है। उसे न तो सूर्य, चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं। वह परमधाम है, जहाँ से सौटना संभव नहीं है-

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते सद्ग्राम परमं मम्।।¹⁵

कहा भी गया है कि जीव ईश्वर का सनातन अंश है। यह जीव होकर प्रकृति में रहने वाली मन सहित पांचों इन्द्रियों को अपनी ओर खींचता है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर चराचर जगत में व्याप्त है, परन्तु वह इससे परे भी है। ईश्वर अपने तेज से सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को धारण करता है। वह रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर सभी औषधियों एवं वनस्पतियों का पोषण करता है। ईश्वर केशवानर रूप अग्नि होकर सभी के देह में निवास करता है। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का तेज ईश्वर का स्वरूप है। परमात्मा रूप में विश्व और विश्वातीत रूप का परम समन्वय है। ईश्वर संसार में है तथा संसार से परे भी है। संसार में है से गीता में सर्वेश्वरवाद स्पष्ट परिलक्षित होता है। संसार से परे है से गीता में विश्वातीतवाद दिखलाई पड़ता है। सचमुच ईश्वर जगत में है और जगत में समाप्त नहीं होता है, वह जगत से परे भी है। हे अर्जुन! सब वस्तुओं का जो भी कुछ बीज है, वह मैं हूँ। चराचर वस्तुओं में ऐसी कोई नहीं है, जो मेरे बिना रह सके। हे शत्रु को जीतने वाले अर्जुन, मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। जो कुछ मैंने तुम्हें बताया, वह मेरी असीम महिमा का केवल निदर्शन मात्र है-

नान्तोऽस्ति मय दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष नू देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।¹⁶

जो कोई भी प्राणी गौरव, चारुता और भक्ति से युक्त है तो तू समझ ले कि वह मेरे ही तेज के अंग से उत्पन्न हुआ है। भगवान क्षर, अक्षर से जो विराट् रूप है। अर्जुन ने अपने दिव्य चक्षुओं से कृष्ण के उस विराट् रूप को देखा था। अर्जुन साक्षी हुआ उस विराट् स्वरूप का। वह साक्षी भाव से देखा था। अर्जुन उस रूप का द्रष्टा था। उसका कर्तृत्व समाप्त हो गया था। कर्तृत्व के समाप्त होने पर उसका अहं भाव भी समाप्त हो गया था। जब तक अहंकार होता है तब तक सत्य स्वरूप प्रकट नहीं होता है। विराट् स्वरूप के दर्शन करके वह अत्यन्त आह्लादित हुआ। इस विराट् रूप के दर्शन के बाद वह कहता है-

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्यक्तुप्रसादानमयाद्युतः।'

अर्थात् हे कृष्ण! मेरा अहं नष्ट हो चुका है। मुझे अपना कर्तव्य याद आ गया है। वह आपकी कृपा से ही संभव हुआ है।

ईश्वर का अवतार रूप

ईश्वर नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, पूर्ण ब्रह्म एवं परमात्मा होते हुए भी मत्स्य, कच्छप, बाराह, नृसिंह, वामन आदि अनेक रूपों में प्रकट होता है। यही ईश्वर का अवतार है। अवतार के कारण ही निर्गुण ब्रह्म सगुण रूप में राम और कृष्ण के रूप में धरती पर अवतरित होता है। शास्त्रों में ईश्वर के दस अवतारों का उल्लेख है। ये सभी अवतार ईश्वर के सगुण रूप हैं। सगुण रूप में ही भगवान भक्तों को सबसे प्रिय है। साकार भगवान की पूजा, अर्चना कर भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास भक्त करते हैं। अवतार के कारण ही भक्तियोग का महत्व है। सबसे पहले अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म पहले ही चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ किन्तु तुम नहीं जानते हो। मेरे और तुम्हारे जन्म लेने में यह अन्तर है कि मानव-प्राणियों का देहधारण स्वीच्छक नहीं है। वे जैसा चाहे वैसा जन्म नहीं ले सकते। अज्ञान के कारण अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर वे बार-बार जन्म लेते हैं। भगवान प्रकृति पर नियन्त्रण करता है और अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करता है। प्राणियों के सामान्य

जन्म का निर्धारण प्रकृति की शक्तियों द्वारा होता है। मूलतः जीव कर्म के नियम के अधीन है और इसलिए विवश होकर विश्व के जीवन में शरीर धारण करने के लिए विवश है। किन्तु ब्रह्म अपनी माया द्वारा (आत्ममाया) जन्म लेता है। मानवीय आत्माएं अपने कर्मों की प्रभु नहीं हैं। वे प्रकृति की वशवर्ती हैं, जबकि भगवान प्रकृति का नियन्त्रण करता है। भगवान अनासक्त कर्म करता है, अतः उसके कर्म उसे बन्धन में नहीं डालते हैं।

“न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीनमसक्तां तेषु कर्मसु।।”

अवतार का अर्थ एवं उद्देश्य — अवतार का अर्थ उतरना अर्थात् जो नीचे उतरता है उसे अवतार कहते हैं। दिव्य भगवान संसार को एक ऊँचे स्तर तक उठाने के लिए पार्थिव स्तर पर उतर आते हैं। अवतार का उद्देश्य एक नये संसार का, एक नये धर्म का उद्घाटन करना है।¹⁴ अपने उद्देश और उदाहरण द्वारा वह यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार मनुष्य अपने आपको जीवन के उच्चतर स्तर तक उठा सकता है। परमात्मा धर्म के पक्ष में कार्य करता है। अतः जब भी धर्म क्षीण होने लगता है और अधर्म की वृद्धि होती है तब सर्वशक्तिमान भगवान जन्म लेते हैं। भगवान यद्यपि अजन्मा है और जन्म है किन्तु जब कभी धरती पर धर्म का हास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है तब वे अर्जुन! मैं अवतार रूप में जन्म लेता हूँ।

“यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।”

मूलतः धर्म की धारणा ऋत के विचार का ही विकास है। जो ऋग्वेद में सांसारिक और नैतिक व्यवस्था का द्योतक है। ऋत, जो संसार को तार्किक दृष्टि से ऊँचा स्थान प्रदान करता है। गीता का परमात्मा धर्म का रक्षक है, कहा भी गया है-

“त्वमव्ययः शाश्वत धर्म गोप्ता”¹⁵

कृष्ण का अवतार या दिव्य भगवान का मानवीय संसार में अवतरण प्राणी की उस दशा को प्रकट करता है, जिस तक मानवीय आत्माओं को ऊपर उठना चाहिए। अवतार इस ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में अनेक कार्यों को पूरा करता है। इस धारणा से यह अर्थ निकलता है कि

आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। यदि संसार अपूर्ण है और इसका शासन शैतान या मनुष्य रूप में शैतान द्वारा किया जा रहा है तो यह परमात्मा का दायित्व है कि अवतार लेकर शैतान या मानव रूपी शैतान से संसार और धर्म की रक्षा करें। भागवत में कहा गया है— सर्वव्यापी भगवान केवल दानवीय शक्तियों का विनाश करने के लिए ही नहीं, अपितु मर्त्य मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए भी प्रकट होते हैं, अन्यथा आनन्दमय भगवान सीता के विषय में विन्ता आदि का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं।¹⁶ यह भूख और व्याज, शोक और कष्ट, एकान्त और परित्यक्ता का अनुभव करता है। वह इन सब पर विजय प्राप्त करता है और हमसे कहता है कि हम भी उसके उदाहरण से साहस और धैर्य प्राप्त करें। बौद्ध दर्शन में भी अवतार का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध कहते हैं— शिष्यों! इस बात को समझ लो कि समय-समय पर ऐसा तबागत संसार में जन्म लेता है, जो पूरी तरह ज्ञान से प्रकाशित होता है। वह पवित्र और योग्य होता है। उसमें ज्ञान और अच्छाई प्रचुर मात्रा में भरी होती है। वह लोकों के ज्ञान के कारण प्रसन्न रहता है। पथ भ्रष्ट मर्त्यों के लिए वह अद्वितीय मार्गदर्शक होता है। वह देवताओं और मनुष्यों का गुरु होता है। वह भगवान बुद्ध है। वह सत्य शब्दों और सत्य की भावना की घोषणा करता है, जो आदि, मध्य और अन्त सबमें सुन्दर होता है। वह एक पवित्र और पूर्ण उच्चतर जीवन का ज्ञान लोगों को कराता है।¹⁷ महायान बौद्ध-सम्प्रदाय के अनुसार गौतमबुद्ध से पहले भी बहुत से बुद्ध हो चुके हैं और गौतम के बाद एक और बुद्ध मैत्रेय के रूप में होगा। गीता कहती है कि सज्जनों की रक्षा के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए भगवान समय-समय पर जन्म धारण करते हैं।

“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।”¹⁸

अतः यह स्पष्ट है कि अवतार का उद्देश्य केवल विश्व व्यवस्था को बनाये रखना ही नहीं है, अपितु मानव प्राणियों को उनकी अपनी प्रकृति में पूर्ण बनने में उनकी सहायता करना भी है। मुक्त आत्मा पृथ्वी पर असीम की एक जीती-जागती प्रतिमा बन जाती है। परमात्मा के

मानव रूप में अवतारण का एक प्रयोजन यह भी है कि मनुष्य ऊपर उठकर परमात्मा तक पहुंच सके। धर्म का उद्देश्य मनुष्य की यह पूर्णता है और अवतार सामान्यतया इस बात की घोषणा करता है कि वह स्वयं ही सत्य, मार्ग और जीवन है। राम और कृष्ण के रूप में भगवान विष्णु के अवतार से क्रमशः जहां अधर्मी रावण एवं कंस का विनाश होता है वहीं बहुत सारे लोगों को धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। दुष्टों के संहार से तथा साधुओं की रक्षा से धर्म की रक्षा है, यही अवतारवाद का रहस्य है।

अस्तु भगवद्गीता में जिस परमात्मा का विवेचन मिलता है वह एक, अद्वितीय, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, अतीन्द्रिय एवं अन्तर्यामी रूप में दृष्टिगोचर होता है। वह जगत में भी और जगत से परे भी है। वह क्षर रूप में संसार है और अक्षर रूप में विश्वात्मा है तथा परमात्मा रूप में इन सबसे परे है। उसी की ज्योति से सब ज्योतिर्मय होते हैं। उसका विराट् स्वरूप है जिसका दर्शन उसके परमभक्त अर्जुन को हुआ था जिसके कारण वह निष्काम कर्म मार्ग पर अग्रसर हुआ था। वह अधर्मियों के विनाश एवं धर्म के उत्थान के लिए अवतार लेता है और संसार में धर्म की प्रतिष्ठा करता है, यही गीता में परमात्मा की वास्तविकता है।

संदर्भ सूची -

1. श्रीमद्भगवद् गीता, 15/16
2. अमरकोशः एक रूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः।

3. गीता, 15/18
4. वही, 15/19
5. मुण्डकोपनिषद्- 'अक्षरात् परतः परः पुरुषः'
6. गीता, 7/4
7. वही, 7/5
8. कठोपनिषद्, 6/1
9. तैत्तरीयउपनिषद्, 1/10
10. गीता, 15/1
11. महाभारत, अश्वमेधपर्व, 47/12-15
12. गीता, 7/8-11
13. वही, 7/12
14. वही, 9/17-18
15. वही, 15/6
16. वही, 10/40
17. वही, 9/9
18. भागवत, 9/24
19. गीता, 4/7
20. वही, 11/18
21. भागवत, 5/19
22. तैत्तिर्यसुत, 6/6
23. गीता, 4/8

निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनू - 341306 (राज.)



RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-4



अंक-04



त्रैमासिक



अक्टूबर-दिसम्बर 2016

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	21वीं शताब्दी और जैन धर्म : आधुनिक अभियान्त्रिकी एवं विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में	प्रो. कमलेश कुमार जैन	06-09
02.	माध्यमिक स्तर के ग्रामीण एवं शहरी विद्यार्थियों की जिज्ञासा प्रवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. वन्दना अरोड़ा, प्रो. लोकमान्य मिश्र	10-15
03.	परम्परा से आधुनिकता की ओर-भारतीय परिदृश्य	डॉ. पुष्पा मिश्रा	16-18
04.	मानव शरीर की जलतत्त्व चिकित्सा	श्रीमति वीनोद सिवाग	19-23
05.	भगवद् गीता में आत्मा और मोक्ष	प्रो. जानन्द प्रकाश त्रिपाठी	24-29
06.	कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र-भारतीय राजनीति का मेरुदण्ड	भारती कंवर	30-33
07.	शुद्धवाचन में उच्चारण शिक्षण की भूमिका	डॉ. वीरेन्द्र जैन	34-37
08.	जैन परम्परा में ऋद्धि-सिद्धि	मनोज कुमार टाक	38-44
09.	Contribution of householders in shaping Buddhist Ideology : Traditional and Contemporary	Prof. Pradyumna Dubey	45-52
10.	Jain Prayer and Āvaśyakasūtra	Dr. Pradyumna Shah Singh	53-57
11.	पुस्तक समीक्षा	शिवनाथ मिश्र	58

भगवद् गीता में आत्मा और मोक्ष

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

गीता एक ऐसा आध्यात्मिक ग्रन्थ है जिसमें आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य, कर्म, निष्काम कर्म, मोक्ष आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ कर्तव्य पथ से द्युत अर्जुन को भगवान् कृष्ण मोह छोड़कर कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने की शिक्षा देते हैं। गीता की यह शिक्षा मात्र अर्जुन के लिए ही नहीं है और न ही मात्र उस युग के उस क्षण के लिए ही है जिस क्षण अर्जुन को व्यामोह हुआ था। यह शिक्षा सभी युगों के सभी कर्तव्यव्युत लोगों के लिए है। इसे सनातन शिक्षा कहा जाना अधिक प्रासंगिक है। आज भी जो सैनिक मोहवश युद्धभूमि से पलायन कर जाते हैं, जो व्यापारी, डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक एवं किसान अपने-अपने कर्तव्य से किसी कारण से विमुख होते हैं, उन सबके लिए गीता का यह ज्ञान आवश्यक है। वे भौतिकवादी लोग जो चार्वाक दर्शन एवं वर्तमान भौतिक प्रवृत्तियों से इतने प्रभावित हो जाते हैं कि उन्हें इस जीवन के सिवाय कुछ दिखता ही नहीं। जो यह मान बैठते हैं कि बड़े भाग्य से यह मानव शरीर मिला है जो फिर कभी मिलने वाला नहीं है। अतः इस शरीर से जितना भोग उपभोग कर सकते हैं, अधिक से अधिक करना चाहिए। क्योंकि शरीर और भोग के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ऐसे लोगों के लिए शरीर ही सब कुछ है, आत्मा कुछ भी नहीं है। चार्वाक दर्शन का मूल सिद्धान्त ही था कि "जब तक जीओ, सुख से जीओ और कर्ज लेकर घी पीओ। शरीर के नष्ट हो जाने पर कुछ श्रेय नहीं रहता है, अतः पुनर्जन्म बकवास है।"

ऐसे भौतिकवादी प्रवृत्तियों में निमज्जित लोगों के लिए गीता जिस आत्मवाद की शिक्षा देती है उससे उन्हें सन्मार्ग पर जाने की प्रेरणा मिलती है कि शरीर नश्वर है। शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अन्यथा राजा विशंकु की दुर्गति होगी। राजा विशंकु को अपने शरीर के अंग-प्रत्यंगों पर बहुत अभिमान था। वे अपने अंग-प्रत्यंगों के साथ स्वर्ग जाना चाहते थे। हठ भी किया। उनके इस हठ में विश्वामित्र ने साथ दिया और सशरीर स्वर्ग भेजने की कोशिश की किन्तु वे सफल नहीं हुए और राजा विशंकु बीच में अटक गये। इन्द्र ने उन्हें ऊपर नहीं आने दिया और विश्वामित्र ने उन्हें नीचे नहीं गिरने दिया। अतः विशंकु की स्थिति से बचना चाहिए और शरीर के प्रति ममत्व नहीं रखना चाहिए। शरीर

उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है, वह मरता भी है। किन्तु भारतीय चिन्तन परम्परा में जो उत्पत्ति एवं विनाश से परे है, वह आत्मा है। गीता में आत्मा की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। गीता में एक तरफ कुलधर्म है तो दूसरी तरफ वर्णधर्म है। कुलधर्म तो कुल की रक्षा की बात करता है तो वर्ण धर्म अपने वर्ण के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। इन्हीं दोनों धर्मों के द्वन्द्व के बीच अर्जुन कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उसे कर्तव्य मार्ग पर लाने के लिए जहाँ भगवान कृष्ण उसे ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग आदि की शिक्षा देते हैं, वहीं आत्मवाद की भी शिक्षा देते हैं। यहाँ अर्जुन को बताया गया कि आत्मा नित्य है। एक राजा के मारे जाने पर ऐसा नहीं होगा कि राजा का नामोनिशान मिट जायेगा। राजा पहले भी थे, आज भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे।

“नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥”

अर्थात् आत्मा नित्य है, इसलिए शोक करना ठीक नहीं है। वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था। अथवा यह राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। सार यह है कि आत्मा नित्य है। अमुक-अमुक के मरने पर भी उस पर कोई असर नहीं पड़ता है।

आत्मा शाश्वत है- गीता के अनुसार आत्मा शाश्वत है। यह किसी से उत्पन्न नहीं है क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है। अतः आत्मा सनातन है। गीता के अनुसार-

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूया भवित् वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥”

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में न जन्मता है और न मरता है। न ऐसा है कि यह अभी है और फिर कभी नहीं रहेगा। यह तो अजन्मा (कभी न उत्पन्न होने वाला), नित्य (हर दिन), शाश्वत (हर काल में) एवं पुरातन (सबसे प्राचीन) है। शरीर के विनाश होने पर भी इसका नाम नहीं होता है।

जैसे शरीर पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मा नित्य है। इसी

के कारण व्यक्ति का आवागमन जन्म-जन्मान्तरण तक बना रहता है। अतः अर्जुन निश्चिन्त होकर युद्ध करो क्योंकि यदि यह शरीर नष्ट हुआ तो आत्मा दूसरे शरीर में तुम्हें जीवित रखेगी। यही बात तुम्हारे सगे-सम्बन्धियों पर भी लागू होती है। जिन पर तू बाण नहीं चलाना चाहता और कर्तव्य पथ से विमुख होना चाहता है तो तुझे यह ध्यान करना चाहिए कि तू अपने सगे-सम्बन्धियों को कभी मार नहीं सकता क्योंकि इनकी आत्मा नित्य है फिर क्यों तू कर्तव्य न करने का दोषी बनता है। कहा भी गया है-
वास्तसि जीर्णानि यथा विद्यथ, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहत्य जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥”

अतः यह स्पष्ट होता है कि जन्म-जन्मान्तरण में आत्मा ही है। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है। आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायाँ ओर है। आत्मा ही बायाँ ओर है और आत्मा ही सब कुछ है।

आत्मा का स्वरूप

गीता में कहा गया है कि यह आत्मा अविनाशी है और इसी से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उस अव्यय आत्मा का कोई विनाश नहीं कर सकता-

“अविनाशि तु तद्वि द्वि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥”

उपनिषदों में भी बताया गया है कि आत्मा से भिन्न अथवा बाह्य कोई सत्ता नहीं है। समस्त सृष्टि का मूल आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। भ्रम है। आत्मा के किसी रूप का ज्ञान उसके पूर्ण रूप का ज्ञान है। आत्मा ही एक मात्र ज्ञाता है। वह सब कुछ जानता है किन्तु वह प्रमाणातीत है-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥”

अर्थात् इस नाशरहित अप्रमेय। नित्य स्वरूप जीवात्मा के यह शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिए हे, भारतवंशी अर्जुन! सभी प्रकार के ब्यामोह छोड़कर युद्ध करो।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि एक बार प्रजापति ने कहा जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृचुहीन, विशोक,

क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है उसे खोजना चाहिए। जो उस आत्मा को प्राप्त कर लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। प्रजापति के मुख से यह सुन देवताओं और दानवों ने उपयोगी आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिए इन्द्र और विरोचन को अपने-अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजा। प्रजापति ने दोनों को एक पात्र में स्वच्छ जल रखकर अपने स्वरूप को देखने के लिए कहा। दोनों ने जल में अपने-अपने स्वरूप भलीभाँति देखकर जब प्रजापति को बताया तो उन्होंने कहा- यह तो जो पुरुष नेत्रों में दिखाई देता है, वह आत्मा है, अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है। आत्मा के बारे में यह जानकर दोनों चले गये। विरोचन शान्ति धित से असुरों के पास पहुँचकर आत्मविद्या के बारे में बताया कि इस लोक में शरीर ही पूजनीय है और शरीर ही सेवनीय है। परन्तु इन्द्र ने देवताओं के पास जाकर प्रजापति के पास लौट आये और पूछा यदि बाह्य स्वरूप ही आत्मतत्त्व है तो शरीर के स्वच्छ होने से यह भी स्वच्छ हो जायेगा। आपके इस ज्ञान से मुझे संतोष नहीं है। प्रजापति ने पुनः उन्हें उपदेश दिया कि जो स्वप्न देखता है, वह आत्मा है। इस पर जब भी इन्द्र ने असहमति व्यक्त की तो प्रजापति ने कहा- जब कोई मनुष्य पूर्ण तुष्ट होकर प्रगाढ़ निद्रा में सोया रहता है, जब उसे कोई स्वप्न दिखाई नहीं देखा है, उस स्थिति में मृत्यु और भय से रहित जो चेतना है वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। इस पर भी जब इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुए तो प्रजापति ने इन्द्र को अन्तिम सत्य के रूप में आत्मा के जिस रूप को प्रतिपादित किया था, उस रूप में आत्मा अशरीरी है, सूक्ष्म है और शरीर से समुत्थान कर परमज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। गीता में भी कहा गया है-

‘वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।’

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य अजन्मा एवं अव्यय मानता है। वह न ही किसी को मरवा सकता है और न किसी को मार सकता है क्योंकि उसे पता है कि किसी भी स्थिति में आत्मा का समूल विनाश नहीं किया जा सकता। आत्मा अशरीर होने के

कारण ही अविनाशी है। आगे गीता यह भी कहती है-

‘नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।’

अर्थात् आत्मा को शास्त्रादि से काटा नहीं जा सकता। इसे अग्नि जला भी नहीं सकती। इसे पानी गीला नहीं कर सकता तथा हवा इसे सुखा भी नहीं सकती है। ऐसा इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि-

‘अच्छेद्योऽयमदाहवोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुक्लोऽयं सनातनः।।’

अर्थात् यह आत्मा काटा नहीं जा सकता, इसे जलाया नहीं जा सकता, इसे गलाया भी नहीं जा सकता तथा इसे सुखाया भी नहीं जा सकता। यह नित्य है अर्थात् कभी नष्ट होने वाला नहीं है, सर्वव्यापक है अर्थात् सर्वत्र है, अचल, सुस्थिर एवं सनातन है। वही आत्मा का स्वरूप है।

आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए गीता आगे कहती है-

‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।’

अर्थात् यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि यह रूप नहीं है कि नेत्रेन्द्रिय द्वारा देखा जा सके, यह रस भी नहीं जिसका स्वाद रसनेन्द्रिय (जिह्वा) द्वारा लिया जा सके, यह कोई गन्ध नहीं जिसे घ्राणेन्द्रिय द्वारा सूँघा जा सके। यह कोई स्पर्श नहीं है जिसे त्वचा के द्वारा चूँआ जा सके और न ही यह शब्द है जिसे कान के द्वारा सुना जा सके, अतः यह किसी इन्द्रिय के द्वारा न जानने के कारण अव्यक्त है। आत्मा अचिन्त्य है अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय मन के द्वारा भी इसका मनन एवं चिन्तन नहीं हो सकता। यह अविकारी है अर्थात् इसमें कोई बदलाव नहीं लाया जा सकता, इसे किसी के द्वारा विकृत नहीं किया जा सकता। अतः हे अर्जुन! आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझकर तुझे शोक नहीं करना चाहिए अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।

आत्मा-शरीर सम्बन्ध : गीता के अनुसार शरीर को मारा जा सकता है क्योंकि यह मारने योग्य है, मारने योग्य इसलिए है क्योंकि यह सावयव है। यह सावयव है क्योंकि

यह उत्पन्न होता है, जो उत्पन्न होता है वह किसी न किसी आकार में उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है, जिसे आकार मिला है, वह आकार एक न एक दिन क्षीण होगा। कहा भी गया है-

“जातस्य हि ध्रुवो मृस्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥”

अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है उनका मरना निश्चित है और जो मरता है उसका उत्पन्न होना निश्चित है। इसलिए जिस चीज को टाला नहीं जा सकता, उसके विषय में शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

जब देह मरता है, देही आत्मा कभी नहीं मरता तब प्रश्न उठता है कि यदि शरीर मरण धर्म है और आत्मा अमर्त्य है फिर इन दोनों में सम्बन्ध कैसे होता है? यस्तुतः शरीर और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध का यह प्रश्न बहुत जरूरत है। जिन्होंने भी इस सम्बन्ध पर विचार किया उन्हें कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं मिला अपितु उन्होंने इसे एक आश्चर्य ही माना। जिन्होंने इस तत्त्व का उपदेश दिया उन्होंने भी इसे एक आश्चर्य के रूप में व्याख्यायित किया। सुनने वालों ने भी इसे एक आश्चर्य माना। कोई इसे जान नहीं पाया-

“आश्चर्यवत पश्यति कश्चित्स्वम् आश्चर्यं कति तेषां च न्यः ।
आश्चर्यमन्वैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाप्येनं केन न चैव कश्चित् ॥”¹⁴

अर्थात् हे अर्जुन! यह आत्म तत्त्व बड़ा गहन है, इसलिए कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्यपूर्वक देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्यपूर्वक इसके तत्त्व को कहता है, कोई आश्चर्य की तरह इसे सुनता है कोई-कोई सुनकर भी इसे जान नहीं पाता।

आगे गीता कहती है कि शरीर में रहने वाली आत्मा का कभी बन्ध नहीं किया जा सकता। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता। तुम क्यों अपने कर्म अर्थात् युद्ध करने से पलायन कर रहे हो। गीता में कहा गया है-

“देही नित्यम वध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥”¹⁵

अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है किन्तु आत्मा चेतन है तो शरीर अचेतन,

आत्मा निरवयव है तथा शरीर सरवयव है, आत्मा नित्य है तो शरीर अनित्य है, आत्मा अव्यक्त है तो शरीर व्यक्त है, आत्मा अधिन्य है तो शरीर चिन्त्य है, आत्मा अजर- अमर है तो शरीर उत्पन्न भी होता है, मरता भी है, आत्मा अव्यय है तो शरीर व्यय है। आत्मा अबध्य है तो शरीर बध्य है।

मोक्ष विचार - गीता में मोक्ष विचार अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है, यथा परमात्मा में स्थित होना, देवीसम्पदा को प्राप्त करना, आत्मा-परमात्मा की अद्वैतता, बौद्धों की भाँति कर्म हीन निर्वाण, स्थितप्रज्ञता, आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर परमधाम अथवा परमगति की उपलब्धि आदि। यहाँ मोक्ष को ही परमसिद्धि कहा गया है। गीता के अनुसार जो ब्रह्म में लीन हैं, वे मुक्त हैं। जिनका मन और बुद्धि ब्रह्म में लीन है, जो ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म परायण हैं वे ज्ञान के द्वारा अपने पापों को छोड़कर उस परम गति को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ से पुनः वापिस नहीं होना पड़ता है-

“तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥”

गीता में आगे कहा गया है कि वह योगी जो अन्दर रमण करता है और अन्दर सुख पाता है तथा जिसके अन्दर ही प्रकाश है, स्वयं ब्रह्म बनकर शान्त ब्रह्म को उपलब्ध करता है-

“योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्व्याप्तिरे व यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽपि गच्छति ॥”¹⁶

मुक्ति प्राप्त के अन्य लक्षण बतलाते हुए गीता में कहा गया है-

‘लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मसुः ।

छिन्न द्वेषा यतात्मानः सर्वभूताहितेरताः ॥”

अर्थात् जिनके पाप क्षीण हो गये, जिनकी सब दुविधा मिट गयी तथा जो सब प्राणियों के हित में रहा है ऐसे संयत आत्मा वाले ऋषि शान्त ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

आगे उल्लेख है-

“कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥”¹⁷

अर्थात् जिन्होंने काम- क्रोध से अपने को अलग कर लिया है, चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसे आत्मतत्त्व के ज्ञाता यतियों के चारों ओर शान्त ब्रह्म ही है।

प्रायः यह माना जाता है कि शरीर के छूटने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। आचार्य रामानुज की यही मान्यता है। वे केवल विदेह मुक्ति को मानते हैं। वैसे दर्शन जगत में जीवन्मुक्ति भी मानी जाती है, जो शरीर रहते हुए भी होती है। गीता दर्शन का विश्वास जीवन्-मुक्ति में भी है। कृष्ण कहते हैं कि शरीर के छूटने से पहले ही इस संसार में रहते हुए भी मनुष्य सुखी रह सकता है। यदि वह काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को रोक सके। कहा भी गया है-

“शक्नोतीहिव यः तोदुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।”²⁰

अर्थात् जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है अर्थात् काम-क्रोध को जिसने सदा के लिए जीत लिया है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है। प्रो. दयानन्द भार्गव कहते हैं कि काम एक शक्ति है। काम का अर्थ है- यह आशा करना कि सुख कहीं बाहर से आये। यही कामना है। इस कामना के दो विकल्प हैं- या तो पूरी हो जाती है या यह पूरी नहीं होती है। पूरी हो जाती है तो व्यक्ति शक्तिहीन सा हो जाता है और यदि पूरी नहीं होती है तो क्रोध का जन्म होता है। अभिप्रायः यह है कि कामना का पूरी होना और न होना दोनों ही अनर्थकारी हैं।²¹

गीता कहती है कि काम और क्रोध का एक वेग है। हम सब जानते हैं कि जहाँ वेग होता है वहाँ शक्ति रहती है। इस शक्ति का बहिर्मुख हो जाना काम है और अन्तर्मुख हो जाना राम है। जब यह शक्ति बाहर सुख ढूँढती है और जिस सुख को वह ढूँढती है वह सुख इसे नहीं मिल पाता तो स्वाभाविक है कि यह शक्ति क्रोध में बदल जाती है। और यदि वही सुख मिल जाये तो वह सुख इतना नीरस सिद्ध होता है कि व्यक्ति अवसाद में डूब जाता है। कारण स्पष्ट है कि सुख बाहर है ही नहीं तो मिलेगा कैसे? तब उप्रायः यह है कि सुख अन्दर ढूँढा जाये।

जो सुख अन्दर ढूँढते हैं उनकी भक्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। अन्दर सुख है और ऐसे व्यक्ति को कभी निराशा नहीं होती है। श्री कृष्ण कहते हैं कि जो अन्दर सुख को

पाता है, अन्तरात्मा में ही रमण करता है, अन्दर ही ज्योति का दर्शन करता है, वह ब्रह्मरूप बनकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

गीता में शरीर के चक्र और श्वास की गति को आधार बनाकर श्रीकृष्ण अर्जुन को ध्यान की वह प्रक्रिया बताते हैं कि जिस प्रक्रिया से साधक इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण पा जाता है तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो जाता है। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के बाह्य विषयों को बाहर ही छोड़कर दोनों आंखों के बीच के स्थान पर (आज्ञाचक्र) चित्त को लगाकर तथा नासिका के भीतर चलने वाले प्राण और अपान को सम बनाकर जो मोक्ष में तत्पर मुनि इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण कर लेते हैं और इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है वह सदा मुक्त ही है-

‘स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्याश्चक्षुर्धैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानी समीकृत्वा नासाभ्यान्तरधारिणी।।
यतेन्द्रिय मनोबुद्धिमुनिर्मोक्ष परावणः।

विगतेच्छाभयक्रोधी यः सदा मुक्त एव स।।”²²
मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में गीता में वर्णित निम्न श्लोक भी मोक्ष की महिमा का गुणगान करते हैं-

“इहैव तैर्जितः सर्गो येषां सान्ये स्थितं मनः।
निर्दोष हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।”

अर्थात् जिनका मन समत्वभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही संसार से मुक्त हैं, क्योंकि साच्चिदानन्दधन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे साच्चिदानन्दधन परमात्मा में ही स्थित हैं। गीता कहती है-

‘न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।”²³

अर्थात् जो पुरुष प्रिय को अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त कर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को अर्थात् जिसको लोग अप्रिय अर्थात् प्रतिकूल समझते हैं, उसको प्राप्त कर दुःखी या उद्वेगवान नहीं, ऐसा स्थिरबुद्धि, संशय रहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष साच्चिदानन्दधन पर ब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से निरत्यस्थित है।

अन्यत्र भी कहा गया है-

“वाह्यस्पर्शेष्व सक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुरवम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥”²⁴

अर्थात् बाहर के विषयों में अर्थात् सांसारिक भोगों में आसक्तिरहित अन्तःकरण वाला पुरुष अन्तःकरण में जो भगवत् ध्यान जनित आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष साच्चिदानन्दधन पर ब्रह्म परमात्मरूप योग में एकी भाव से स्थित हुआ अक्षय आनन्द को अनुभव करता है। गीता के अनुसार-

“भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदसर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥”²⁵

अर्थात् मुझे यज्ञ और तप का भोक्ता, सब तोगों का महेश्वर तथा सब प्राणियों का मित्र ज्ञानकर व्यक्ति शांति को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता में आत्मा को केंद्र में रखकर ही समस्त चिन्तन किया गया है। कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया जाने वाला सन्देश भी आत्म ज्ञान का सूचक है। यहां आत्मा को नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, पुरातन, अजर, अमर माना गया है। काम-क्रोध एवं राग-द्वेष से मुक्त आत्मा जीवनकाल में भी मुक्त होती है, जिसका यहां स्पष्ट उल्लेख है। अर्थात् गीता दर्शन में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है। मोक्ष के साधन के रूप में कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मनुष्य के कल्याण के लिए मैंने तीन मार्ग बतलाये हैं- ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग एवं भक्ति मार्ग। अन्ततः भक्त को भगवान में समर्पित होने की प्रेरणा यहां दी गयी है। अर्थात् जो अपना सर्वस्व भगवान में समर्पित कर देता है, वह मुक्त हो जाता है।

संदर्भ सूची -

1. भगवद्गीता, 2/12
2. वही, 2/20
3. वही, 2/22
4. छान्दोग्योपनिषद्, 7/24/25
5. गीता, 2/17
6. वही, 2/18
7. छान्दोग्योपनिषद्, 8/7/1
8. वही, 8/12/1
9. गीता, 2/21
10. वही, 2/23
11. वही, 2/24
12. वही, 2/25
13. वही, 2/27
14. वही, 2/29
15. वही, 2/30
16. वही, 5/17
17. वही, 5/24
18. वही, 5/25
19. वही, 5/26
20. वही, 5/23
21. विपुलभाष्य, पृ. 150
22. गीता, 5/27-28
23. वही, 5/19
24. वही, 5/20
25. वही, 5/21
26. वही, 5/29

निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनू - 341306 (राज.)

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-5

अंक-02

त्रैमासिक

अप्रैल-जून, 2017

A Peer Reviewed Research Quarterly

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	प्रकाश स्वरूपा मायत्री	प्रो. हरिशंकर पाण्डेय	06-15
02.	समय और सामायिक	डॉ. दिलीप धींग	16-20
03.	“धम्मपद में निरूपित आचार-सूत्र”	डॉ. सूरज राव	21-25
04.	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्य - शिक्षा की प्रासंगिकता	जय प्रकाश सिंह	26-30
05.	जैन अर्द्धमागधी आगमों में अलंकार	समणी संगीत प्रज्ञा	31-34
06.	कविवर भूधरदासजी कृत बारह- भावनाओं का मनोरम चित्रण	ममता जैन	35-38
07.	आचार्य गणेशमुनि के प्रवचनों में कुसंस्कार निवारण	डॉ. विकास चौधरी	39-41
08.	श्रीमद्भगवद्गीता में योग साधना एवं पथ्य-अपथ्य	मुकेश शर्मा	42-44
09.	E-Learning and Higher Education	Mrs. Vinod Siyag	45-49
10.	Integrating Technology into the Curriculum: Teaching the Teachers	Vineet Kaul	50-57
	पुस्तक समीक्षा	प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	58

संज्ञा, शक्ति एवं अहिंसा का अनुसरण आदि।
 शक्ति माहौल, धर्म एवं अज्ञेयता का संरक्षण जीवन, शैक्षणिक संस्थाओं में प्रजासैनिक
 एवं उपयुक्त बनाने के लिए। जैसे-आदर्शवादिता, अनुशासन, गुरु-शिष्य संबंध, शिक्षा के लिए
 वर्तमान शिक्षा की समस्याओं को हल करने में उस काल की कड़े बातें आज भी प्रासंगिक
 अपरिहार्य, जीवन मान से प्रेम, विद्यार्थियों के लिए दस आदर्श नियमों का धारण आदि।
 दोनों स्तरों पर शिक्षा की व्यवस्था की जिसमें धार्मिक मूल्य से ही जैसे-सत्य, अहिंसा,
 व्यवहार में आचरण पर विशेष जोर दिया जाता था। इस समय प्रासंगिक एवं उच्च स्तर
 आदि। इसके बाद शैक्षणिक संस्थाओं में शिक्षा का आधार "वैज्ञानिक साहित्य" होने के कारण
 एवं धार्मिक निर्माण, नियमों का धारण करना, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक गुरुओं का विकास
 आधार "वेद" होने के कारण वैदिक मूल्यों, नियमों की शिक्षा दी जाती थी। जैसे-व्यक्तित्व
 आदर्श नियम संयम में रहकर अर्थों की शिक्षा संवर्धित होती थी। इस काल में शिक्षा का
 (उपनयन एवं प्रवर्ण) से होती थी। इस संस्कार के बाद ही उसे गुरुकुल या आश्रम के
 प्रकाश प्रदान है। प्राचीनकाल में शिक्षा की शैक्षणिक धारण धर्म से एक संस्कार
 भारतीय शिक्षा के इतिहास को देखते हैं तो शिक्षा में मूल्यों के विकास पर काफी

एवं अनुभव विज्ञान का अध्ययन ही संकेत।
 विद्यार्थियों, उपलब्धता, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक
 की वास्तविकता को समझना या परिदृश्य विद्या जा सकता है अर्थात् उस समय के
 विषय के ऐतिहासिक पक्ष को जाना जाये। इस ऐतिहासिक पक्ष से ही हमें उस काल, समय
 एवं परिवर्तन को शब्द बताना है। इसलिए यह ज्यादा आवश्यक ही जाना है कि किसी भी
 करना रहता है। मनुष्य अपने पूर्व के अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर अपने वर्तमान
 ज्ञान" को समय विशेष के कालचक्र की परिस्थितियों के अनुसार सुधार या परिवर्तन
 शक्ति-विचार, रत्न-सहन, संस्कृति, मूल्यों आदि को सीखता है। मनुष्य अपने "अनुभव एवं
 मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जिस समाज में रहता है। उस समाज के

अथ प्रकाश सिंह

वर्तमान परिवर्तन में मूल्यों की प्रासंगिकता

पर नई शिक्षा प्रणाली (...)
 की संरक्षण धर्म ...
 से बदलाव संरक्षक ...
 से ही है। ...
 'शिक्षा-प्रणाली' ...
 धर्म-संरक्षण, ...
 देखने की मिलता ...
 संरक्षण से देश ...
 संरक्षण, ...
 निर्माण, ...
 जाती थी। ...
 लिए कठोरता ...
 विकास की धारण ...
 समय शिक्षा प्रणाली ...
 द्वितीय स्वतंत्रता ...
 धारण से ...
 को धारण करना ...
 अपने धारण को ...
 जैसे-अहिंसा एवं ...
 स्थान पर अपने ...
 परिवर्तित आदि। ...
 का विकास हुआ। ...
 (स्वतंत्रता से पूर्व) ...
 संरक्षण को देख ...
 आधुनिक ...
 निर्माण शिक्षा ...
 एवं वैज्ञानिक शिक्षा ...
 अज्ञेयता एवं ...
 मनुष्यमान एवं ...
 इस काल की कड़े ...
 धार्मिक उपेक्षा ...
 शिक्षा के संरक्षण ...
 शिक्षा (परम्परा) ...
 में भी शिक्षा के ...
 पर आधारित या ...
 प्रकाश

मध्यकाल में शिक्षा का मूल आधार "इस्लाम धर्म" आधारित था जिसका मुख्य स्रोत कुरान था। इस काल में भी शिक्षा के दो स्तर प्राथमिक स्तर (मक्तबा) और उच्च शिक्षा (मदरसा) में प्रदान किया जाता था जिसमें धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ चरित्र निर्माण, नैतिकता पर बल, भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता था। इस काल की कई बातें वर्तमान शिक्षा प्रणाली के लिए मूल्यवान एवं उपयोगी हैं। जैसे-व्यावहारिक शिक्षा, अध्यापकों एवं छात्रों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क, धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा का समन्वय, कक्षा-नायक की प्रणाली, निःशुल्क शिक्षा आदि।

आधुनिक काल को दो भागों में बांट कर शिक्षा के स्वरूप को देखा जा सकता है। प्रथम ब्रिटिश कालीन (स्वतंत्रता से पूर्व)-इस काल में शिक्षा की नई प्रणाली का विकास हुआ। जैसे प्राइमरी, सेकेण्डरी, कॉलेज और यूनिवर्सिटी आदि। पर इनका उद्देश्य सर्वांगीण विकास के स्थान पर अपने स्वार्थ भरे उद्देश्यों को साधना था। जैसे-अंग्रेजी एवं पाश्चात्य संस्कृति के विकास के साथ-साथ अपने शासन को चलाने हेतु अंग्रेजी सोच वाले भारतीयों को तैयार करना था। अर्थात् इस काल में मूल्यों का स्तर नगण्य हो चुका था।

द्वितीय स्वतंत्रता के बाद (1947 के बाद)-इस समय शिक्षा प्रणाली के नये पाठ्यक्रमों में भारतीय संस्कृति के विकास को ध्यान में रखते हुए नैतिक मूल्यों का पाठ पढ़ाने के लिए करुणारूपी कहानी के साथ-साथ धार्मिक कविताएं पढ़ायी जाती थीं। जैसे स्वीन्द्रनाथ टैगोर, जयप्रकाश प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, रामचारी सिंह दिनकर आदि। इन कविताओं से एक तरफ नैतिकता, आदर्श का पाठ पढ़ाया जाता था जो आगे चलकर वे देश प्रेम एवं सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों का बढ़ावा देखने को मिलता था लेकिन 1970 के दशक के बाद जहाँ धीरे-धीरे नयेपन, आधुनिकता और प्रगति के नाम पर "शिक्षा-प्रणाली" में बदलाव पश्चिमी दुनिया से सम्पर्क बढ़ने से शुरू हुआ। कुछ वर्षों बाद ऐसी परिस्थितियां बनने लगीं और ये बदलाव खटकने लगा। इसी का परिणाम था कि राजीव गांधी की सरकार द्वारा शिक्षा की विभिन्न चुनौतियों के आधार पर नई शिक्षा प्रणाली (10+2+3), कम्प्यूटर शिक्षा के साथ-साथ

मूल्य आधारित शिक्षा पर जोर दिया गया था। भारतीय सरकार की राजनीतिक उथल-पुथल और दुनिया भर के तौर तरीकों को बिना जाने, समझे और परखे अपने पाठ्यक्रम में नवीनता के नाम पर परिवर्तन किया जा रहा है जिसका गंभीर परिणाम देखने को मिल रहा है। शिक्षा पर गठित आयोगों, समितियों एवं कार्यदलों ने स्वीकार किया कि समाज को मूल्यों से समृद्ध करने एवं समाज का नैतिक विकास करने हेतु मूल्य शिक्षा आवश्यक है।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, शिक्षा-प्रणाली की संरचना, औद्योगिक सभ्यता के उदय एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के विकास से मानव के जीवन दर्शन, जीवन शैली एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति में लालच, संकीर्णता, स्वार्थपरता, सम्वेदनहीनता एवं विलासिता की वृद्धि हुई जिससे व्यक्ति और समाज का पतन शुरू हुआ। चूंकि शिक्षा समाज का एक अंग होने के कारण शिक्षा में भी मूल्यों का हास होना स्वाभाविक दिखलाई पड़ता है। जैसे- अनुशासनहीनता, कर्तव्यविमुखता, उत्तरदायित्व का अभाव, श्रम से विमुखता, समानता, निराशावाद आदि विकृतियां शिक्षा जगत् के सामान्य लक्षण के रूप में देखने को मिलते हैं। सर्वत्र मूल्यों के हास ने विश्व के समक्ष अनेक नवीन समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है।

वर्तमान समय की स्थिति को समझने के लिए इस समय में चल रहे मीडिया, न्यूज पेपर, सोशल साइट को देखने से हमारे सामने मूल्यों में हो रही गिरावट दिखाई पड़ती है। उदाहरण स्वरूप समाचार पत्र को ही ले लें,

1. नौवीं की छात्रा का टायलेट में प्रसव, 02 दिसम्बर, 2012, राजस्थान पत्रिका।
2. स्कूल का फरमान 1 मीटर की दूरी बनाकर रखे छात्र और छात्राएं, 27 सितम्बर, 2015, राजस्थान पत्रिका।
3. स्कूल में शिक्षकों की कमी होने पर शिक्षक लगाने के लिए प्रदर्शन, 04 अक्टूबर, 2015, राजस्थान पत्रिका, चूरु।
4. जहां गाव-थैस बंधी वहीं परीक्षा दे रहे बच्चे, 19 दिसम्बर, 2015, राजस्थान पत्रिका, चूरु।

5. बच्चे को बैठने की जगह नहीं मिली, शिक्षिका ने खुद बनवा दिया भवन, 13 जनवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका।
6. शिक्षक ने छात्रा का सर फोड़ा, 13 जनवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका, सीकर।
7. फर्जी टीसी देने के आरोपी को जेल, 16 जनवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका।
8. छात्रा से शिक्षक ने किया दुष्कर्म, 03 फरवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका।
9. दुष्कर्म के आरोपी शिक्षक को निलम्बित गिरफ्तारी के लिए प्रदर्शन, 04 फरवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका, चूरु।
10. शिक्षा विभाग का लिपिक रिश्तत लेते गिरफ्तार, 20 फरवरी, 2016, राजस्थान पत्रिका।
11. स्कूल में दो अध्यापक, उसमें से एक छुट्टी पर, 13 सितम्बर, 2016 राजस्थान पत्रिका।

उपरोक्त घटनाओं के उल्लेख के माध्यम से यह प्रमाणित होता है कि दैनिक समाचार पत्रों में शिक्षा एवं शिक्षा से जुड़े हुए लोगों में मूल्यों की गिरावट होती हुई दिख रही है। यह सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र का ही हाल नहीं है बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों की गिरावट देखने को मिल रही है।

जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, भ्रष्टाचार, हवाला शेयर बोटाला, हिंसा, क्षेत्रीय संकीर्णता, अलगवाववाद, धर्मान्ध कट्टरतावादियों द्वारा फैलाया जा रहा धार्मिक आतंकवाद हो या सांस्कृतिक संकट, राष्ट्रीय जीवन के लिए विप का काम कर रही है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि खुली अर्थव्यवस्था, नये बाजार, उदारगीकरण, भूमण्डलीकरण, उपभोग संस्कृति, उत्पीड़न, रंगभेद, लैंगिक पक्षपात की कोई संस्कृति नहीं होती। दो विश्वयुद्धों एवं उपनिवेशवाद ने मनुष्यों को उपभोक्ता एवं विज्ञापन संस्कृति की सीख हासिल की है। साथ ही इस तकनीकी युग में विज्ञापन संस्कृति इतनी बढ़ चुकी है कि इससे वर्तमान में जीवन मूल्यों की सुरक्षा करना चिन्तनीय विषय बन चुका है। नैतिक मूल्य लोकतंत्र की केन्द्रीय धुरी है। वास्तविकता यह है कि मूल्य कभी बिखरते नहीं। बिखरती है हमारी

चेतना और दूटते हैं हमारे विश्वास, तब उत्पन्न होती हैं कुण्डलएं और हम दूर होते जाते हैं अपने अन्तर्निहित विश्वासों से। जब हमारी चेतना प्रमित होती है तब राजनीतिक सोच का अवमूल्यन होता है और भ्रष्ट नीति से लोकतंत्र भी घायल होता है। ज्यों-ज्यों समाज में परिवर्तन होता है त्यों-त्यों मानव सम्बन्ध भी बदलते हैं। उनकी चेतना भी बदलती है और ठीक इसी क्रम में साहित्य, धर्म और दर्शन भी कुछ परिवर्तित होते हैं। हमारी रुचि, नैतिकता और दृष्टि में भी परिवर्तन होता है। फिर यह भी तो सच है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। यहीं पर एक सवाल उत्पन्न होता है कि आज नैतिकता एवं मूल्यों के प्रति कम आस्था पैदा हो रही है। आज हम जिस समाज में सांस ले रहे हैं उसमें हमारी भाषा, आचार-विचार एवं सद्व्यवहार नये कपड़े की तरह सिकुड़ रहे हैं। वर्तमान परिदृश्य में हमें बाजार की दुकानों, चौराहे के होटलों, फेसबुक, टी.वी. सिरियलों, अखबारों एवं सरफिरों की भाषा में ऐसी भाषा सुनाई दे रही है जिससे हमारी नैतिकता निरन्तर गिरती जा रही है। बाजार में प्रदर्शन की इस भाषा एवं व्यवहार ने भयंकर हमला हमारे नैतिक मूल्यों एवं नैतिकता पर किया है।

हम लोग 71वीं स्वाधीनता दिवस मना चुके हैं जिसमें नेताओं के शोथे वादे, करि आश्वासन, चरम व्यक्तिवाद से भरी मानसिकता और भौतिक सुख की उपभोगवादी नीति के अलावा उनके पास कोई बड़ी विशेष उपलब्धि नहीं है। उदाहरण स्वरूप 'कर्मवीर सैनिकों' ने जो अपना सर्वस्व त्याग किया है। यहां तक कि अपने प्राणों की आहुति भी दी है इस पर नेता स्वार्थपूर्ण एवं दिखावे की राजनीति से ओतप्रोत होकर सिर्फ उनके परिवार के लोगों को 'मेडल' से तो सम्मानित कर देते हैं पर बाद में उनके परिवार की कोई सुच लेने वाला नहीं होता। उनकी स्थिति दयनीय होती जाती है। आज उनकी सबसे बड़ी पीड़ा यह है कि राजनीतिक पटल पर व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार का होना। आज के बदलते परिवेश में अपनी मानसिकता बदल चुके हैं, मूल उद्देश्यों से भटकवा हो गया है। आवश्यकता है कि हम सभी लोग अपने कार्य एवं व्यवहार में मूल स्वरूप से मूल्यपरक हों। यदि हम इसमें जितना निहित

होगे उतना ही मूल्यों की पुनर्स्थापना हो सकेगी और हमारा वर्तमान परिवेश के साथ-साथ भविष्य भी और अच्छा होगा।

वैज्ञानिक और तकनीकी विकास, नवीन प्रौद्योगिकी ने हमारी जीवनशैली को बदला है। जनसंख्या वृद्धि, विवेकशीलता में वृद्धि, समान जागरूकता में वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकता आविष्कार की जननी, आर्थिक उदारीकरण, पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव भी वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ज्यादा हुआ है। मूल्यों की रक्षा की विन्ता भारतीय परिप्रेक्ष्य में अधिक इसलिए है कि यह राष्ट्र अनेकता में एकता की धारणा को धारण करने वाला है। यहां की प्राचीन साहित्यकार की रचनाएं, संवेदनशीलता, भावात्मक रूप से मौलिक कहानियों से शाश्वत मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने वाली रही है। यहां के शिक्षाशास्त्री एवं दार्शनिक सत्य, अहिंसा, चरित्र निर्माण एवं सर्वांगीण विकास पर बल देने वाले रहे हैं। साथ ही साथ प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं धर्मगुरुओं, गुरु-शिष्य की परम्परा द्वारा सद्गुणों के विकास का मार्गदर्शन देने वाला रहा है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि प्राचीन समय में यह विश्वगुरु के नाम से जाना जाता था।

शिक्षा नैतिक उन्नयन का माध्यम रही है। कालान्तर में यह रोजगार से जुड़ गयी। अब 'बाजार' शिक्षा की दशा और दिशा तय करता प्रतीत होता है। देश में स्कूली शिक्षा 1 से 8 तक तो सिर्फ परीक्षा उत्तीर्ण करने की है और उच्च शिक्षा केवल डिग्री प्रदान करने की मशीन बनकर रह गई है। इस समय मध्यम वर्ग भी अपने बच्चों को बेहतर कल के लिए कुछ अलग सोचने लगे हैं। यहां तक कि उन्हें उच्च शिक्षा को लेकर विदेश भेजना ज्यादा बेहतर समझते हैं।

विभिन्न प्रकार के अपराधों ने प्राचीन भारतीय दर्शन की मूल परम्परा की नींव को हिला दिया। निजीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं नयेपन के माध्यम से समाज में धन एवं उपभोग नीति बढ़ गयी है। अंततः मैं कहना चाहूंगा कि हमें शाश्वत नीति-नियमों की सत्ता के साथ-साथ मूल्यों को शिक्षा में आत्मबल के साथ अंगीकार करना होगा। साथ ही साथ शिक्षा के पाठ्यक्रमों के माध्यम से शैक्षिक एवं दार्शनिक चिन्तकों के साहित्य अध्ययन, जीवन चरित्र द्वारा आज के मानव के हृदय में भावात्मक संवेदना पैदा कर दिमाग में नई सोच पुनः विकसित करनी होगी।

इसके लिए सिर्फ सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक पक्ष पर ज्यादा ध्यान देना होगा। अतः मूल्यपरक शिक्षा से हमारा तात्पर्य उस 'शिक्षण' से है जिसमें हमारी नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य समाहित हों, प्रत्येक विषय को मूल्यपरक बनाकर उसके माध्यम से विविध मूल्यों को विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में समाहित करना ताकि विद्यार्थियों का संतुलित एवं सर्वतोमुखी विकास हो सके।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मूल्यों को दरकिनार करने वाली शिक्षा प्रणाली सिर्फ सामाजिक विकृतियों को जन्म दे रही है। जिसका हल कानून के ढण्डे से संभव नहीं। समाज में जड़ जमा रही इस प्रवृत्ति को बदलना होगा, जो शिक्षा द्वारा ही संभव है। मूल्यों के विकास में शिक्षा की सकारात्मक भूमिका होती है इसी कारण वर्तमान विश्व में मूल्य शिक्षा पर बल दिया जा रहा है। शिक्षा जगत् से जुड़े अभिभावक, अध्यापकों, नीति निर्माताओं एवं समाज सुधारकों ने मूल्य की पुनर्स्थापना हेतु शिक्षा में मूल्य शिक्षा की संकल्पना को प्रभावी रूप से माना है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भटनागर, सुरेश, कुमार, संजय (2005) "भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास", आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, पृ. 532
2. लोढ़ा, महावीर मल, 'नैतिक शिक्षा : विविध आयाम', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007, पृ. 297
3. पाठक, पी.डी. (2004) "भारतीय शिक्षा और उसकी समस्या", विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ. 732
4. पाठक, रघुनाथ प्रसाद (1988), "नैतिक जीवन", सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-7, पृ. 63
5. रूहेला, सत्यपाल (2009) "मूल्य शिक्षा : क्या, क्यों, कैसे?", अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 356
6. रूहेला, सत्यपाल (2010) "शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय आधार", अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 367
7. रूहेला, एस.पी.: "विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा", आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर, (2006), पृ. 592

8. रामगढ़िया, निर्मल सिंह (2006) "मूल्यपरक शिक्षा" गुरुजी बुक कम्पनी, जयपुर
9. नेगी, सुरेन्द्र सिंह (2000), "नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता", आदित्य पब्लिशर्स, बीना-13, मध्य प्रदेश, पृ. 149
10. पाराशर, शैलेन्द्र (2010), "उच्च शिक्षा में शिक्षकों के बदलते मूल्य, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, पृ. 226
- पत्रिकाएं
1. व्यास, ओम बाबू, "बालक के सर्वांगीण विकास में मूल्य शिक्षा का महत्त्व" शिविरा पत्रिका, अक्टूबर 2014, अंक 4, माध्यमिक शिक्षा राजस्थान, बीकानेर, पृ. 36-37
2. पंवार, सत्यनारायण, "सेवारत अध्यापकों द्वारा नैतिक शिक्षा" शिविरा पत्रिका, नवम्बर 2014, अंक 5, माध्यमिक शिक्षा राजस्थान, बीकानेर, पृ. 35-36
3. सिंह, पी.डी., "मूल्य आधारित हो आचरण" शिविरा पत्रिका, दिसम्बर 2014, अंक 6, माध्यमिक शिक्षा राजस्थान, बीकानेर, पृ. 17-18

समन्वयक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू-341306 (राजस्थान)



महत्त्वपूर्ण सूचना

अलख दृष्टि (त्रैमासिक) शोध-पत्रिका के पाठकों, ग्राहकों व शुभचिन्तकों को सूचित किया जाता है कि वे अब भारत की ओरियण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स की किसी भी शाखा में खाता नं. 10271131001021 तथा IFSC Code No. ORBC 0101027 में शुल्क, अनुदान या विज्ञापन की राशि जमा कर सकते हैं। साथ ही हमारे कार्यालय को सूचित करें कि अमुक राशि किस ब्रांच में जमा की गई है। इसके अतिरिक्त राशि या शुल्क मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट द्वारा भी भेज सकते हैं और आप ई-मेल से शोध-लेख भी भेज सकते हैं। पत्रिका का ई-मेल dr.aptripathi@rediffmail.com है। कृपया सुविधा का पूरा लाभ उठाएँ।

— व्यवस्थापक

Learning and Teaching of English in Nagaur District: Problems and Solutions

Tripti Tripathi Dubey

English is the chief vehicle of international communication in the world today. The term Global English has brought the whole world on one stage where people can communicate with each other without any kind of language hurdle. Two thousand years ago, the English language was quite unfamiliar to the world, people were confined to their own community and living just like in separate boxes. Gradually it was a great achievement of men that they created a language (English) which has become common to all. And this language brought the whole world under one umbrella. This is how English language has become the Lingua Franca in the age of globalization breaking all sorts of boundaries either culture or social or geographical etc. It is the only language widely used in the world. David Crystal rightly says in his book (1997) "a language achieve a genuinely global status when it develops a special role that is recognised in every country."

English in India

Nowadays, English language is in great demand in India. It is a symbol of people's aspirations as far as quality education is concerned. English represents the scientific knowledge, modernization and development. English is a medium for understanding technology and scientific development. In India, English gradually has acquired socially and administratively the most dominant roles: the power and prestige of language is defined by the domains of language use. J. Maurais rightly says in this connection,

Ultimately the legal system, the national media and important professions were conducted in English. Skilled professional Indian became

the symbol of Westernization and modernization. Raja Rammohan Roy was committed to the idea that the "European gentlemen of talent and education" should be appointed to instruct the natives of India. English came to be used by Indians, as well. (2006: 47)

During the British regime it was the imperial language – the language of the rulers. It dominated the language scene. The motivation to learn and use this language was very strong. It had behind it a lot of political, economic, administrative, and social force. The association of English with India has been for a very long period. During this entire stretch of time English has moved along various points of the scale. It has merged into the Indian society in such a manner that it is really difficult to assess its proper position. It compels one to wonder whether the fervent nationalists will ever be successful in removing this language from the position it enjoys in society today.

English language teaching in Rajasthan specially in Nagaur district:

Rajasthan was not as active recipient of English education as the southern States were. As a matter of fact, the then princely States of Rajputana were not much aware of the development of the English language and its teaching, though they understood the status of English and it is for the same reason that some of the princes and kings took eager interest in learning English and some of them went to England also. But for the States of Mewar, and Ajmer very few of Rajputana States took any interest in the development of English. As a matter of fact, English education spread in Rajasthan through two doors: enlightened and elite Indian groups and Christian missionaries. So the Royal States didn't take much interest in it. Missionaries were allowed to spread their

education on their own way. In the year 1818 through patronization of the British government, English rulers were eager to establish their authority in Rajasthan. But communication was a major problem for both the colonizers and the royalists. This prepared the background of English education in the land of Maharajas. The task of developing English education in Rajasthan was undertaken by an English educationist Javen Cary who was very keen on creating an environment of English learning in Rajputana. With the help of British resident Actorloni, he started English schools in Ajmer and Pushkar in 1819, and then in Bhinay and Kekari. As soon as India got independence, the Govt. of India started thinking about education, educational institutions and educational reforms. Various ELTIs, RIEs and Boards were established in order to create an atmosphere for education. This is how the State Institute of Language Studies and Board of Secondary Education were established in Rajasthan. The SILS was the govt. agency to take care the affairs of the teaching of English in the State.

Today, the colonial complexes towards English language have been changed and people have realized that with fluent command over language they could have better prospects for job. In Rajasthan, especially in Jaipur many multinational companies have brightened the future of youngsters. But still in rural Bharat the adaption of English language seems a hard nut to crack to the students. They face problems especially with the pronunciation. Needless to say Nagaur has been a great center of royal activities and it played a pivotal role as it is located very near to Ajmer. But as far as education is concerned Nagaur could not develop in the way as it was good in old days. It is lagging behind in the field of English and technical education as well.

The teaching of English in Rajasthan in general and particular in Nagaur has become a great problem. So there is a need for patience at all levels, that is, at the policy framing level, the course designing level and at the class room practice level. The problem acquires a multidimensional scope because of the added complication of English being a foreign language and taught as a second or third language. The followings are the some of the problems that are popping on the scene of the learning and teaching English in Rajasthan and particularly in Nagaur district:

1. It has become very difficult to find good teachers to teach English in the educational institutions. The teachers of English are interested only in their 'service conditions' and not in 'service' to the community of the students; in most of the cases unionism has killed professionalism. As Professor V K Gokak says in his *English in India: Its Present and Future*,

The functional years for the teaching of English in schools and colleges are in the hands of the teachers who neither know enough English nor are familiar with the latest and far-reaching developments of in the pedagogy of English. (1963: 69)

A teacher whose English is faulty cannot be a model in the classroom where English is taught; most teachers, once they get a job, particularly in government sector, cease to learn. Teachers try to cover the portion to be covered and ultimately with great difficulty, cover it up! Learners come to colleges because they want some certificates- a degree or diploma.

2. It is often observed that mostly students take English as a subject of study in a very

light manner or to just qualify the exam. Their prime aim is just to get passing marks and clear it somehow. Hence they do not pay much attention on improving grammar and communication skills. They neither take any interest in the subject nor try to prepare themselves for the competitive examinations. They forget the fact that basic knowledge of English is required for various examinations rather they consider English as drab and monotonous which consequents in poor academic result and little knowledge of English. So the purpose of introducing this subject cannot be served. Most of the students take it considering it as important and prestigious subject with having good scope. They have no depth or keenness for the subject. Some come from different streams having no background of English. Hence they lack basic knowledge of concepts and acquire only superficial knowledge. This causes a great impediment in teaching English to the students in general and marginalized ones in particular.

3. Generally curriculum designed has major lacunas such as stale, old syllabus and lacking new changes. Changes done are very slight. Curriculum tends to be conventional, not up to the mark and not updated, for instance, latest developments in Grammar and new contemporary writers and their works should be included while designing the curriculum so that it would arouse interest in the learners and be able to enhance their knowledge. Teachers will also get updated knowledge and broaden their mental horizon. While designing the syllabus the learners and their opinions are never taken into consideration. The syllabus thus designed does not have any direct reflection of the lives

and problems of the learners. Defects in curriculum are also a big problem in teaching English. In India there seem to be no thinking or whatsoever with regard to the textbooks. The textbooks once prescribed in the syllabus, remain there for many years. No one thinks about the recent developments in the field of teaching and learning English.

4. The teaching of English suffers from the faulty methods as the teachers in most of the cases are not exposed with the latest trends and techniques of the teaching English. Oral or lecture method is favoured in colleges, i.e., teacher uses English as the ordinary language of the English lesson, unless someone clears advantage is to be gained by the use of the mother tongue. Grammar is taught on memorization basis.

5. Many major defects are also noticed in our examination system. College and Universities examination pattern generally do not cover the whole syllabus in a detailed form. Students leave many topics in order to get pass marks and prepare themselves to attempt five set questions that are almost predictable. In this case, the students do not get thorough knowledge of the concerned subject. There is no viva-voce at the undergraduate level, so their communicative skills are not developed. Moreover, sometimes examination answer sheets are not checked up properly which results in bad lot of the students for next class which causes obstacle in teaching English efficiently.

6. Most of the colleges are situated in the areas where there are no infrastructure facilities like adequate class rooms, lights, furniture, water or blackboards etc. Under these adversities, teaching English becomes a very difficult job.

The latest teaching equipment like Laptops, Audio Visual aids (LCD, OHP, Printer, and Scanner etc.) are not available in most of the colleges. Without these teaching tools, English cannot be taught in an effective way. Now UGC has started providing funds for the establishment of knowledge centres and network resource centres in the colleges. But even then, the learning of English has not taken a shape in the area of study.

7. A well-arranged library is a key factor of successful teaching. It reflects the output of the college; students also take admission in the colleges for getting good books and update their knowledge through them. But this is a great dilemma that in most of the institutes, libraries are not computerized or well-equipped. In this condition, students do not get updated online information. Moreover, some colleges lack full time librarians also. So both students and teachers face great problems which hinder the teaching and learning of English.

8. Language, particularly the English language, has become not only a means for power and exploitation, it is also a site for struggle. The English knowing class is not interested in any serious changes in society in educating the masses for the newer changes and developments at large scale. The babu or lower-middle official class is interested only in maintaining the feudal order. The result is no proper planning or political will in implementation and lack of coordination among various agencies, Central Government, State Government, Universities, colleges etc. and the aimless drift continues without any directions, clear-cut policies, goals, aims and objectives.

These are the serious problems that Nagaur district has not improved yet as far as English education is concerned. If students of Nagaur district want to beat the students of Jaipur or other students of developed city it is prime need to achieve a good command on English. The followings are some basic solutions through which students of concerned district can come out to the above problems:

The comprehensive upliftment of the students from rural background can be actualized by education and this can be done only by well trained teachers. First and foremost a suitable environment should be created for students. Old teaching methods should be less in use and teachers must skillfully use new methods so that students may have good understanding and command on the language which they are not acquainted with. And gradually they can acquire it. Teachers should give more emphasis to communicative approach rather than any other ineffective methods. They should make students able to communicate in English inside and outside of the class room. For this an English environment has to be made so a teacher should conduct group discussion, debate, role playing, creative games in which students actively and wholeheartedly can take part.

English should not be treated as a subject or an alien language. On the other hand it should be accepted widely in modern world. Today computer plays a vital role in the process of teaching and learning. Audio visual and computer have made the English language learning easy and interesting as well. CALL has reduced the burden of the teacher. CALL enables the learners to look beyond the conventional mode of learning. New era and encourages self-learning. Curriculum must be formed according to the students belonging to rural areas that

should not be totally unfamiliar to them. 'So local, folk and Dalit literature should be used for the language purpose either in the actual form or in translated form.' (2012: 71). Time to time syllabus and course materials must have change and contain those elements which are of use and interest of students.

'Pratham; English language training programme developed by Indian network of NGOs', such programmes should be encouraged so that English language can be made learning easy. Today internet has reached mostly to the every Indian villages and that brought revolution in education system. Through which e-learning could be possible in such remote areas. English teachers and learners can use E learning website and new media tools. Various language councils and institutions have started interactive language learning websites. Vocabulary development programme, blogs and digital storytelling, video sharing websites like YouTube, English Language Podcast (listening comprehension) can be used for English language learning. Many Apps related to English language learning, can be operated on mobile phone and nowadays smart phones are available to everyone. So in present time technology has made English language learning easy and interesting but the need is to understand its proper use.

In nutshell, English teaching to the students of Rajasthan in general and Nagaur in particular has been facing great perspectives, problems and challenges but these problems can be overcome by creating adequate atmosphere among the students. The govt. has to also play climactic and culminating character so as to solve and minimize the maximum deterrents and deterrents that are coming in the way of the teaching of English. The teachers also have to develop new strategies to combat shortcomings

in teaching English. Teaching of English should be imparted with latest technology and more student-friendly tools. It should be more task-based and made more interactive; only then, genuine purpose of teaching English can be served.

References :

1. Crystal, David. *English as a Global Language*. New York: Cambridge University Press, 1997.

2. Gokak, V.K. *English in India, its Present and Future*. Bombay: Asian Publishing House, 1965.
3. Goyal, Sanjay. *Teaching English: Trends and Challenges*. Ladnun: JVBI, 2014.
4. Goyal, Sanjay. *English for the Marginalized*. Ladnun: JVBI, 2012.
5. Mauray, J. *A Handbook on Language Policy*. 2006.

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की सवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-3



अंक-10



त्रैमासिक



अप्रैल-जून, 2015

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
1.	संस्कृत साहित्य में नारी	डॉ. शंकरलाल शास्त्री	6-20
2.	भगवद्गीता का कर्मयोग	प्रो. जानन्द प्रकाश त्रिपाठी	21-25
3.	समाज कार्य और सामाजिक मूल्य	डॉ. विजेन्द्र प्रधान, डॉ. पुष्पा मिश्रा	26-28
4.	वैदिक ऋचाओं में मानवाधिकार का चिन्तन	डॉ. सूरज राव	29-33
5.	संवेग के मूल रहस्य की जैन दृष्टि	डॉ. समणी मल्लिप्रज्ञा	34-41
6.	पर्यावरणीय चिन्तन एवं जैन दर्शन	ममता जैन	42-47
7.	परिवार मूल्य, शिक्षा की नींव	डॉ. आभा सिंह, गिरधारी लाल शर्मा	48-50
8.	Debating Gandhi	Dr. Anil Dutta Mishra	51-55
9.	Book Review of Redress Mechanisms for Victims of Domestic Violence	Dr. Sanjay Goyal	56-58

भगवद्गीता का कर्मयोग

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

भगवद्गीता कर्म प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कर्म करने पर विशेष बल दिया गया है। इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि ही है कि युद्ध में कौरव-पाण्डव की सेनायें आमने-सामने होती हैं। अर्जुन को अपने विरोधी सेना में अपने ही सुहृद्जन होने के कारण व्यामोह हो जाता है। वह युद्ध करने से मना कर देता है। अपना गाण्डीव नीचे रख देता है और स्पष्ट रूप से अपने सारथी भगवान् कृष्ण से कह देता है कि वह युद्ध नहीं करेगा। अपने किसी मित्र, परिजन आदि पर बाण नहीं चलायेगा अर्थात् वह मोह के वशीभूत होकर कर्म से निवृत्त होने का संकल्प लेता है। इसी पृष्ठभूमि में कर्मयोग से च्युत अर्जुन को भगवान् कृष्ण आदेश देते हैं और उसके मोह को नष्ट करने का प्रयास करते हैं। जिस मोह के कारण अर्जुन अपने कर्म को छोड़ने का विचार करता है उसी मोह की निवृत्ति एवं कर्मयोग पर प्रशस्त होने का संदेश ही गीता का प्रमुख उद्देश्य है। बाल गंगाधर तिलक एवं डॉ. एनीबेसेण्ट का मानना है कि गीता यह करो, यह करो का संदेश देती है। अतः यह कर्म प्रधान ग्रन्थ है।

गीता में कर्म का जो विवेचन किया गया है वह मीमांसकों के कर्ममार्ग से पूर्णतया भिन्न है। मीमांसक वेदोक्त कर्म पर बल देते हैं। गीता के अनुसार अव्यक्त प्रकृति और उससे उत्पन्न गुणों से ही कर्म संभव होते हैं। अज्ञान के कारण व्यक्ति अपने आपको कर्ता मानता है जबकि वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं। अहंकारी व्यक्ति अपनी अज्ञानता के कारण अपने आपको कर्ता मानता है-

“प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढाणात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।”

अर्थात् हे अर्जुन! वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं फिर भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला व्यक्ति मैं ही कर्ता हूँ, ऐसा मान लेता है।

गीता यह भी स्पष्ट करती है कि प्रायः कर्ता सोचता है कि यह मैंने किया, यह मेरे द्वारा किया गया, यह मैं ही कर सकता हूँ। दूसरा कोई नहीं, इस कारण से उसे अहंकार होता है जबकि कर्ता तो कर्म के पांच कारणों में से एक है फिर पूरा श्रेय उसे ही क्यों मिले? गीता कहती है—

“अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्
विचिंशच्च पृथक्चेष्टा देवं चैवात्र पंचमम् ।”

कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! कर्म का कोई एक हेतु नहीं है। कर्म के 5 प्रमुख हेतु हैं- अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, देव। इन पांचों कारणों से कर्म संपादित होता है, किसी एक कारण से नहीं। अतः किसी एक कारण को पूरा श्रेय नहीं मिलना चाहिए।

गीता के पारायण से कर्म सम्बन्धी अनेक मन्तव्य दृष्टिगोचर होते हैं-

कर्म अनादि है- गीता में कर्म प्रवाह को अनादि माना गया है। इसकी अभिव्यक्ति संसार, प्रकृति, माया, दृश्य सृष्टि आदि से भी की गयी है। गीता में सब कर्मों को सात्विक, राजसिक एवं तामसिक इन तीन रूपों में विभक्त किया गया है। सतोगुण का परिणाम सुख, रजोगुणका परिणाम दुःख तथा तमोगुण का परिणाम प्रमाद या आलस्य माना गया है। तीनों गुणों का अस्तित्व सदैव रहता है। यह दूसरी बात है कि कभी कोई गुण प्रभावशाली होता है तो कभी अन्य गुण। सतोगुण जब रजोगुण एवं तमोगुण को आवृत्त कर लेता है तो व्यक्ति सुख की अनुभूति करता है। रजोगुण जब सतो एवं तमोगुण को ढक लेता है तो दुःख प्रभावी होता है। तमोगुण जब रजो एवं सतोगुण को आवृत्त कर लेता है तो व्यक्ति भारीपन अनुभव करता है। निद्रा, तन्द्रा एवं आलस्य की अनुभूति उसे होती है-

“सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्त तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥”

गीता में ही यह स्पष्ट कहा गया है कि सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है और इस प्रकार कर्म का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है-

“सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एवं च ।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥”

वेदोक्त कर्म में परिष्कार - जप-तप-यज्ञ आदि वेदोक्त कर्म माने जाते हैं। वेदों का कर्मकाण्ड में विश्वास है। वेद में अनेक कर्मकाण्डों के निश्चित फल मिलने का उल्लेख है। सन्ध्या वंदन से दीर्घायु प्राप्त होती है। इसी

प्रकार ज्योतिष्ठोम यज्ञ से स्वर्ग, राजसूय से वैभव, अश्वमेध से चक्रवर्ती पद, वाजपेय से सम्राट पदवी, पुष्येष्टि से पुत्र प्राप्ति आदि फलों की प्राप्ति का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है। इस वर्णन की सत्यता पर विचार करते हुए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इन सब फलों को प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है? स्वर्गकामोयजेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए। 'पुण्ये क्षीणे मर्त्यलोके विशन्ति' अर्थात् यज्ञ करने से प्राप्त पुण्य के क्षीण हो जाने से स्वर्ग से मृत्युलोक में पुनः आना पड़ता है। सांख्य दर्शन में कहा गया है-

“दृष्टवदानुश्रविकः सत्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतश्रेयान व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्”

अर्थात् सुना गया कारण भी प्रत्यक्ष कारण की तरह निरर्थक है क्योंकि इसमें अपवित्रता, शय और इससे श्रेष्ठ कारण की संभावना है। अतः 'यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, मैं उपयुक्त तीन दोषों के कारण यह उपयुक्त नहीं है। जहाँ तक गीता की बात है, गीताकार वेदोक्त कर्म में आस्था रखते हैं किन्तु चूँकि गीता परिणाम अर्थात् फल की चिन्ता न करने पर बल देती है जबकि वेदोक्त कर्म में प्रत्येक कर्म के फल की बात कही गयी है जिसमें परिष्कार की अपेक्षा गीता करती है। वेदोक्त कर्मों से भोग, ऐश्वर्य अवश्य प्राप्त होता है, स्वर्ग भी मिल सकता है, किन्तु कर्मकाण्ड का जटिल जाल तो छूटता नहीं और न जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिलता है। तृप्ति कभी मिलती नहीं। इस प्रकार कामनाओं से घिरा मन कभी भी शान्त नहीं हो सकता, फिर सुख की चर्चा ही व्यर्थ है। 'आशान्तस्य कुतः सुखम्' अर्थात् जिनका चित अशान्त है उसे कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए वेदोक्त कर्मों में परिष्कार की अपेक्षा की अभिव्यक्ति गीता में हुई है।

कामनाओं का त्याग आवश्यक है- गीता कर्म के त्याग की बात नहीं करती है अपितु कामनाओं के त्याग की बात करती है। कामनाएं दो प्रकार की होती हैं प्रथम कृत्रिम एवं द्वितीय स्वाभाविक कामना। कामनाओं के त्याग से तात्पर्य कृत्रिम कामनाओं के त्याग से है। सम्पूर्ण कामना के त्याग से कर्म संभव ही नहीं है। स्वाभाविक कामनाएं तो ईश्वर प्रदत्त हैं। उन्हें त्यागा नहीं जा सकता है।

कृत्रिम कामना और स्वाभाविक कामना में अन्तर करते हुए प्रो. दयानन्द भार्गव ने श्रीमद् भगवद्गीता

विपुलभाष्य में लिखा है कि शराव पीने की कामना किसी प्राणी में स्वभाव से सहज रूप में नहीं होती। बार-बार के अभ्यास से यह कामना उत्थाप्य है, उत्थित नहीं, इसे प्रयत्न पूर्वक पैदा किया जा सकता है। यह स्वयं उत्पन्न नहीं होती किन्तु सद्यः जात शिशु की माँ का स्तन पान करने की इच्छा उत्थित है, उत्थाप्य नहीं। वह इच्छा ईश्वर की इच्छा है। यदि शिशु में माँ के स्तनपान की इच्छा न हो तो वह जीवित नहीं रह सकता। प्रायः सभी व्यक्तियों में आहार-निद्रा की इच्छा इसी कोटि की है।¹

अतः यह स्पष्ट हुआ कि उत्थित इच्छाओं की पूर्ति हो और उत्थापित इच्छाओं का शमन हो। उत्थित इच्छाओं का सीमाकरण जरूरी है। भूख लगी तो हम सीमित भोजन करते हैं। असीमित भोजन करने से अजीर्ण की बीमारी होती है। अतः भागवत्कार कहते हैं कि व्यक्ति का स्वत्व उतने पर ही है जितने से उसका पेट भर जाये, जो इससे अधिक को अपना मानता है, वह चोर है और दण्डनीय है—

“यावत्प्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत सःस्तेनः दण्डमर्हति।”

अतः स्पष्ट है कि कृत्रिम कामनाओं के त्याग और स्वाभाविक कामनाओं के आधार पर कर्म होना चाहिए।

कर्म का नहीं फलासक्ति का त्याग जरूरी—
प्रायः गीता पर यह आरोप लगाया जाता है कि गीता कर्म के त्याग पर बल देती है। जबकि वास्तविकता में ऐसा नहीं है। गीता में तो श्रीकृष्ण अर्जुन से बार-बार कर्म करने हेतु प्रेरित करते हैं। युद्धभूमि में अर्जुन को यह चिंता हो गयी थी कि इससे हमारे धनु-बान्धव, रिश्तेदार मारे जायेंगे अर्थात् फल की चिंता हो गयी थी। फल की ही नहीं अपितु फल में इतनी आसक्ति हो गयी थी कि युद्धभूमि में धनुष-बाण रखकर वह कर्तव्यकर्म से विमुख होना चाहता था। प्रायः ऐसा ही होता है जब फल पर ही दृष्टि रखी जाती है। फल पर दृष्टि रखने से कर्म की उपेक्षा हो जाती है, तभी तो गीता कहती है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूमा तेसङ्गोऽस्त्य कर्मणि।²

—अर्थात् हे अर्जुन! कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फल प्राप्ति में नहीं है। तुम कर्म के फल का कारण मत बनें और साथ ही कर्म न करने में भी आसक्ति मत रखो।

गीता कर्म फल की आसक्ति के त्याग पर बल देती है। कर्म फल की आसक्ति खतरनाक परिणाम को अंजाम देती है। जो छात्र अच्छे नंबर से उत्तीर्ण होने की रट लगाये रखते हैं अर्थात् फल के प्रति जरूरत से ज्यादा आसक्ति होते हैं। अनुकूल परिणाम न मिलने पर वे आत्मघात जैसे जघन्य कृत्य कर लेते हैं। ऐसे जघन्य कृत्य से बचने के लिए ही गीता फलासक्ति को छोड़ने की बात करती है—

“योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।।”³

अर्थात् हे अर्जुन! योग में स्थिर रहकर सफलता-असफलता में समान बुद्धि रखकर तथा आसक्ति का त्याग कर कर्म करो। इसे ही समता योग कहा गया है अर्थात् हर परिस्थिति में समान रह कर कर्म करो।

आत्मतृप्ति के लिए कर्म— यों तो गीता में फलासक्ति के बिना कर्म करने का उल्लेख है। प्रश्न उठता है कि क्या फल के बिना कर्म किया जा सकता है। हर व्यक्ति किसी न किसी उद्देश्य को लेकर कर्म करता है। यह सकाम कर्म है। सकाम कर्म बन्धनकारी है। कर्मों का जो लौकिक अभ्युदय रूप फल है, वह तो अत्यन्त तुच्छ है। किन्तु जब हम अमृत रूप ज्ञान और मृत्यु रूप कर्म में अविनाभाव मानकर ज्ञान और कर्म दोनों को ही श्रुति के आधार पर आत्मा का धर्म मान लेते हैं तो स्वाध्याय आदिकर्म आत्मधर्म हुए। इन कर्मों का मुख्य फल आत्मतृप्ति है न कि लौकिक अभ्युदय। लौकिक अभ्युदय तो स्वतः मिल जाता है जैसे खेती अनाज के लिए की जाती है किन्तु भूसा स्वतः मिल जाता है। कोई किसान भूसा के लिए खेती नहीं करता है। वैसे ही कोई साधक लौकिक अभ्युदय के लिए कर्म नहीं करता है। उसके कर्म आत्मतृप्ति के लिए होते हैं, परमात्मा की प्राप्ति के लिए होते हैं किन्तु लौकिक अभ्युदय स्वतः मिल जाते हैं। कहा भी गया है—

“तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः।।”⁴

अर्थात् हे अर्जुन! तू अनासक्त भाव से निरन्तर कर्म करो क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त करता है। अतः तुच्छ फल से ऊपर उठकर श्रेष्ठ कर्म करो। श्रेष्ठ कर्म वही है जो परमात्मा को समर्पित है। ऐसे कर्म करने से कोई चिन्ता नहीं होती। चिन्तामुक्ति होगी तो शोभ भी नहीं होगा। शोभ नहीं होगा तो आत्म कल्याण होगा।

अहंकाररहित कर्म करना श्रेयस्कर— प्रायः सभी धर्मों में अहंकार को प्रमुख दुर्गुण माना गया है। कहा जाता है कि जिसने भी अहंकार किया, उसका विनाश हुआ। चाहे वह प्रतापी रावण हो या अधर्मी दुर्योधन, सबका पतन हुआ। अहंकार तमोगुण का परिणाम है। अहंकार के कारण विवेक नष्ट होता है और विवेक के अभाव में किया गया कोई कर्म सार्थक नहीं होता। इसलिए अहंकारयुक्त कर्म निरर्थक है। अहंकार से संयुक्त व्यक्ति अपने आपको ही कर्त्ता समझने लगता है जबकि किसी भी कार्य की निष्पत्ति में अकेला वह कारण नहीं है, अन्य कारण भी हैं। गीता कहती है—

“विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति”

अर्थात् जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़कर ममता और अहंकार से रहित होकर निस्पृह भाव से जीवन यापन करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है। गीता जिस शान्ति का उल्लेख करती है वह अहंकार रहित कर्म करने से प्राप्त होती है। अहंकार में व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वह निर्णय करने की स्थिति में नहीं रह जाता है। वह किंकर्तव्यविभूट हो करणीय और अकरणीय में भेद नहीं कर पाता है। जिसके कारण वह अनर्थ एवं अहितकारी कर्म कर लेता है, जिसके लिए उसे जीवनभर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

विवेकपूर्ण कर्म करें— कुछ लोगों के अनुसार गीता कर्म के त्याग की शिक्षा देती है। कर्म बन्धनकारी है अतः कर्म नहीं करने चाहिए किन्तु यह यथार्थ नहीं है, यह अर्थसत्य है। गीता तो विवेकपूर्वक कर्म करने की शिक्षा देती है। गीता कहती है कर्म का उत्प्रेरक विवेक बने, न कि फल की वासना। विवेकपूर्ण कर्म किया जाय और फल न मिले, यह असम्भव है। कारण होने पर कार्य होता है। अकारण कोई कार्य नहीं होता। विवेकपूर्ण कर्म कारण है तो परिणाम भी अच्छा होगा। यद्यपि गीता में यह प्रसिद्ध कथन है कि कृष्ण अर्जुन को अपनी शरण में आने के लिए प्रेरित करते हैं। अर्थात् भक्त को सदैव भगवान की शरण में रहना चाहिए। यह अत्यन्त प्रसिद्ध कथन है किन्तु गीता में बुद्धि की शरण में जाने को भी कहा गया है। बुद्धि हमारी इन्द्रियों को नियंत्रित करती है, पथभ्रष्ट नहीं होने देती। सदा सन्मार्ग पर प्रवृत्त करती है। विवेकी पुरुष सदैव सत्कार्य में प्रवृत्ति होता हुआ संसार को पार लगा लेता है।

“ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कीन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥”

अर्थात् जो इन्द्रिय और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे यद्यपि विषय में लीन पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो निस्सन्देह दुःख के हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिए हे अर्जुन बुद्धिमान, विवेकी पुरुष इन विषय भोगों में नहीं रमते हैं। अतः विषय वासनाओं से निवृत्त होकर विवेकपूर्ण कर्म करना चाहिए ताकि उसके दुष्परिणामों का भागी न बनना पड़े।
कर्त्तव्य कर्म की प्रेरणा— प्रश्न उठता है कि गीता किस प्रकार के कर्म करने की प्रेरणा देती है? यदि फल की इच्छा से कर्म नहीं किये जाने चाहिए तो फिर किस प्रकार के कर्म किये जाने चाहिए या कर्म ही नहीं किये जाने चाहिए? यदि कर्म बन्धन का कारण है तो कर्म ही क्यों करें? गीता अकर्म योग की शिक्षा नहीं देती है। गीता में कर्म योग की प्रधानता है। अकर्म से कर्म अच्छा है—

“नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायोह्य कर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥”

अर्थात् शास्त्राविधि से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करने चाहिए। अकर्म से कर्म करना श्रेयस्कर है। अकर्म से शरीर का भी निर्वाह नहीं होता है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि स्वधर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए अर्थात् कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए। गीता की आस्था वर्णाश्रम व्यवस्था में स्पष्टदृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक वर्ण के अपने कर्म निर्धारित हैं। ब्राह्मण को व्रज, पठन, पाठन के कार्य, क्षत्रिय को रक्षा का कार्य, वैश्य को व्यापार एवं शूद्र को सेवा का कार्य निष्ठा से करना चाहिए। स्वधर्म ही स्वकर्म है, गीता का यह आर्षवाक्य है। अपने धर्म के लिए तो मरना भी कल्याणकारी है—

“श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मेनिधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥”

अपने धर्म के अनुसार ही अपना कर्म होना चाहिए। उसमें यत्किंचित् कमी भी है तो वह दूसरे धर्म से श्रेष्ठ है। पाश्चात्य का एक दार्शनिक ब्रेडले है जो कर्त्तव्य को करने पर बल देता है। उसका मानना है कि समाज में किसी पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि अपने पद के अनुरूप कार्य करे तो समाज में किसी भी प्रकार की समस्या नहीं होगी। अर्थात्

छात्र का धर्म है- पढ़ना, शिक्षक का धर्म है पढ़ाना, डॉक्टर का धर्म है रोगी की सेवा करना, कारीगर का धर्म है अच्छी इमारत बनाना। इस प्रकार सभी को अपने कर्तव्य धर्म बिना किसी फलेच्छा के कर्तव्य को ध्यान में रखकर करने चाहिए।

निष्काम कर्म की शिक्षा— इस प्रकार गीता अकर्म से निवृत्त होकर कर्म करने की ही प्रेरणा नहीं देती अपितु निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती है। निष्काम कर्म से तात्पर्य केवल फल रहित कर्म ही नहीं अपितु फलासक्ति रहित कर्म करने चाहिए। अहंकार, ममकार से रहित कर्म निष्काम कर्म है, रामद्वेष रहित कर्म निष्काम कर्म है। आत्मतृप्ति के लिए किया गया कर्म निष्काम कर्म है। प्रत्येक परिस्थिति में सम रहकर किया जाने वाला कर्म निष्काम कर्म है। गीता कहती है—

“न मे पाशांस्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव चकर्मणि।।”¹⁵

अर्थात् हे अर्जुन तीनों लोकों में मेरे लिए कोई कर्तव्य नहीं है और न ही ऐसी कोई प्राप्ति होने योग्य वस्तु है जो अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म करता हूँ। तात्पर्य यह भी है कि कृष्ण का यह संदेश है कि निष्काम भाव से बिना किसी इच्छाओं के सभी को कर्म करते रहना चाहिए।

गीता के अनुसार कर्म की गति गम्भीर है। कर्म के स्वरूप को समझकर कर्म करने चाहिए। अकर्म के स्वरूप को समझकर भी कर्म करने चाहिए तथा निषिद् कर्म के स्वरूप को भी समझकर कर्म करने चाहिए—

कर्मण्येहयपि बोद्धव्यं बोधय्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहनाकर्मणो गतिः।।”¹⁶

निष्काम कर्म कतृत्व अभिमान को त्याग कर फलासक्ति रहित कर्म को कहते हैं। ऐसे कर्म भगवान को समर्पित करके किये जाते हैं—

“त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।”¹⁷

अर्थात् जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है, वह कर्मों के फल और आसक्ति तथा अभिमान को छोड़कर कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है। अर्थात् निष्काम कर्म करते हुए वह कर्मबन्धन नहीं करता है।

इस प्रकार गीता के ‘कर्मयोग’ का फलितार्थ है—

1. कर्म छोड़ने से कर्म करना श्रेयस्कर है।
2. फलरहित कर्म करने चाहिए।
3. फलासक्ति रहित कर्म श्रेष्ठ है।
4. अहंकाररहित कर्म करने चाहिए।
5. वैदोक्त कर्म करने चाहिए।
6. सहजकर्म करने चाहिए।
7. विवेकपूर्ण कर्म करने चाहिए।
8. तटस्थभाव से कर्म करने चाहिए।
9. यज्ञ और लोकस्थिति बनाये रखने के लिए कर्म करना चाहिए।
10. कर्म ही नैष्कर्म्य की प्राप्ति का उपाय है।

इस प्रकार गीता निष्काम कर्म की शिक्षा देती है। निष्काम कर्म करने वाला कभी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता अपितु सांसारिक बन्धनों को काटने में सफल होता है। यही गीता का कर्म योग है, यही गीता का निष्काम कर्म है।

संदर्भ सूची -

1. भगवद्गीता, 3/27
2. वही, 18/14
3. वही, 14/9,10
4. वही, 14/17
5. सांख्यकारिका, श्लोक-2
6. श्रीमद्भगवद्गीता विपुलभाष्य, पृ. 39
7. भगवद्गीता, 2/47
8. वही, 2/48
9. वही, 3/19
10. वही, 2/71
11. वही, 5/11
12. वही, 3/8
13. वही, 3/35
14. My Place and My Service
15. गीता, 3/22
16. वही, 4/17
17. वही, 4/20

निदेशक

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू (नागौर) राज.





UGC App. No. 64785
Impact Factor : 4.213
ISSN 2348-3857

Research Reinforcement

(A Peer Reviewed International Refereed Journal)

रिसर्च रिइन्फोर्समेंट

Volume 6

Issue 1

May 2018 - October 2018



Research Reinforcement

(A PEER REVIEWED INTERNATIONAL REFEREED JOURNAL)

Editor's Desk

Patron

Shri Rajendra Prasad Gupta

RAS (Rtd.), Govt. of Rajasthan, Jaipur (Raj.)

Editor in Chief

Dr. Pankaj Gupta

Assistant Professor, Department of College Education, Govt. of Rajasthan

Editors

Dr. Sanjay Kedia

Assistant Principal, IIERD, Jaipur (Raj.)

Dr. Archana Bansal

Lecturer, Govt. S.S. School, Jaipur (Raj.)

Associate Editors

Dr. Vinod K. Bhardwaj

Assoc. Prof., Dept. of College Edu., Govt. of Raj.

Dr. Shiv Kumar Mishra

Asst. Prof., Govt. P.G. College, Kota (Raj.)

Dr. Jagadeesh Giri

Asst. Prof., University of Rajasthan, Jaipur (Raj.)

Ms. Deepshikha Parashar

Asst. Prof., The IIS University, Jaipur (Raj.)

Dr. Shikha Sharma

University of Rajasthan, Jaipur (Raj.)

Research Reinforcement

(A PEER REVIEWED INTERNATIONAL REFEREED JOURNAL)

Contents

S.No.	Particulars	Page No.
1.	उच्च शिक्षा, नव उदारवाद : सैद्धांतिक दृष्टिकोण डॉ. राजेश कुमार जांगिड़ एवं डॉ. अशोक	1
2.	राजस्थान के प्रजामण्डल आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका डॉ. संजीव कुमार	8
3.	इण्डोनेशियाई सदी : एशियाई देशों की सदी (ख्रिस्त तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष सन्दर्भ में) सुभा चन्द्र काण्डवाल	13
4.	जनकानु परिवर्तन एवं सतत पोषणीय विकास रेम सोनवाल	17
5.	भारत-पाकिस्तान संबंधों में शक्ति असंतुलन और शस्त्र दौड़ की समस्या : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन रमणदास शर्मा	22
6.	भारतीय ज्ञान : गांधी व अम्बेडकर विमर्श डॉ. मोहम्मद कामरान खान	28
7.	बीहड़ जर्म में धर्मनिरपेक्षता सोहन कुमार शर्मा	34
8.	राष्ट्रीय संदर्भ में नवीन राज्यों की मांग सुख अजयवाल	39
9.	भारतीय राजनीति में नैतिक मूल्यों का पतन : एक विश्लेषण डॉ. सुनील मराठ	44
10.	भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक दल तथा धर्म : एक अध्ययन सुखन शर्मा	48
11.	मानवाधिकार एवं शोष : राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के सन्दर्भ में अध्ययन डॉ. जयिज कुमार शर्मा	52
12.	भारत में दलित स्त्रियों की मानवाधिकार प्रस्थिति : वर्तमान परिप्रेक्ष्य संचल शर्मा	58

S.No.	Particulars	Page No.
13.	अकान्त समस्या : भारतीय विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में डॉ. मधु बाला	64
14.	अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद : लोकतांत्रिक मूल्यों एवं मानव सभ्यता के लिए बड़ी चुनौती डॉ. धर्मराज शर्मा	69
15.	ऋग्वेदिक राजतन्त्र - उसकी प्रकृति एवं सीमाएँ डॉ. कैलाश चन्द शर्मा	74
16.	इसरो का ऐतिहासिक सफर, उपलब्धियों और बदलते परिदृश्य के साथ चुनौतियाँ अमिता महाला	79
17.	राजस्थान की सशक्त महिला : एक विकासोन्मुख अध्ययन (शिक्षा के विशेष सन्दर्भ में) डॉ. अंजु सुथार	85
18.	आज का समय और गाँधीवादी कविता डॉ. विजय कुमार प्रधान	90
19.	सामाजिक मोडिया : नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन जय प्रकाश सिंह एवं डॉ. विष्णु कुमार	94
20.	उत्तर आधुनिकतावादी कहानी का वैचारिक स्वरूप सीमा सेनी	98
21.	भारतीय राजन्यवस्था में संसदीय समितियों की प्रासंगिकता : एक विश्लेषण डॉ. प्रेम सिंह	102
22.	वर्तमान भारत-चीन सम्बन्ध (डोकलाम के परिप्रेक्ष्य में) ताहिर अहमद	107
23.	मानवाधिकार एवं स्त्री विमर्श डॉ. हरिचरण मीना	111
24.	डॉ. भीमराव अम्बेडकर के चिन्तन में सामाजिक न्याय की अवधारणा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन शिवा मिह	115
25.	लौह पुरुष सरदार बल्लभ भाई पटेल का भारत के निर्माण में योगदान डॉ. हनुमान प्रसाद मीना	120
26.	अंधविश्वास और चमत्कारों का समाज डॉ. अर्चना गोदारा	124
27.	सुशासन एवं सूचना का अधिकार मुकेश कुमार शर्मा	129
28.	स्त्री अस्मिता और नासिरा शर्मा डॉ. चंदना बरमेथा	135

सामाजिक मीडिया : नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन



जय प्रकाश सिंह

शोधार्थी, शिक्षा विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू (राजस्थान)

डॉ. विष्णु कुमार

शिक्षा विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू (राजस्थान)

शोध सारांश

पिछले कुछ वर्षों में विज्ञान के विकास से सूचना प्रसारण के क्षेत्र में जो क्रांति आयी है उससे भारतीय पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षिक क्षेत्रों में सोशल मीडिया ने काफी दुष्प्रभावित किया है। समाज के सभी वर्ग (अभिभावक वर्ग, शिक्षक वर्ग, नेता वर्ग, अधिकारी वर्ग) चिन्तित हैं कि भारत में सोशल मीडिया के क्षेत्र में फेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर, यू-ट्यूब एवं गूगल प्रमुख रूप से प्रभावित कर रहे हैं। इसके माध्यम से रहन-सहन, भाषा, विचार, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी प्रभावित हो रहे हैं। आज किशोरावस्था एवं युवावर्ग के लोग इस तरह आदी हो गये हैं कि इसके बिना एक दिन नहीं रह सकते। या यूँ कहें तो इसके बिना शायद जीवन की कल्पना करना नहीं चाहते, अतः "अति सर्वत्र वर्जयते" कहावत ठीक ही बैठती है। आज इसी विषय पर मेरी कोशिश रहेगी कि समाज के बुद्धिजीवी वर्ग, शिक्षा वर्ग एवं अभिभावक वर्ग को इस ज्वलन्त समस्या सामाजिक मीडिया द्वारा प्रभावित होने वाले क्षेत्र, सामाजिक मीडिया द्वारा नैतिक मूल्यों पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों के उपाय पर प्रकाश डाल सकूँ ताकि आगे इस पर शोध एवं सम्बर्धन कर उज्वल भविष्य की ओर ले जाया जा सके।

संकेताक्षर : सोशल मीडिया, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, अवमूल्यन, भूमिका

आज किशोरों एवं युवाओं में सोशल मीडिया के आकर्षण, चकाचौंध के कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हुआ है। कहते हैं कि हर सिक्के के दो पहलू होते हैं- अच्छा और बुरा। इसका प्रभाव भी सामने आया है। एक तरफ अच्छाई के रूप में देखें तो कम समय में अधिक लोगों से सम्पर्क, पूरी दुनिया एक समाज का हो जाना, अभिव्यक्ति की आजादी, कम खर्च में प्रचार-प्रसार, प्रियजनों से सीधा सम्पर्क, मनोरंजन, ज्ञान का नया भण्डार, पैसे कमाने का जरिया आदि-आदि के रूप में। वहीं इसके अनेक दोष भी सामने दिख रहे हैं। आज इसी विषय पर मेरी कोशिश रहेगी कि समाज के बुद्धिजीवी वर्ग, शिक्षा वर्ग एवं अभिभावक वर्ग को इस ज्वलन्त समस्या पर प्रकाश डाल सकूँ ताकि आगे इस पर शोध एवं सम्बर्धन कर उज्वल भविष्य की ओर ले जाया जा सके। पिछले कुछ वर्षों में विज्ञान के विकास से सूचना प्रसारण के क्षेत्र में जो क्रांति आयी है उससे भारतीय पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षिक क्षेत्रों में सोशल मीडिया ने काफी दुष्प्रभावित किया है। समाज के सभी वर्ग (अभिभावक वर्ग, शिक्षक वर्ग, नेता वर्ग, अधिकारी वर्ग)

चिन्तित हैं कि भारत में सोशल मीडिया के क्षेत्र में फेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर, यू-ट्यूब एवं गूगल प्रमुख रूप से प्रभावित कर रहे हैं। इसके माध्यम से रहन-सहन, भाषा, विचार, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी प्रभावित हो रहे हैं। आज किशोरावस्था एवं युवावर्ग के लोग इस तरह आदी हो गये हैं कि इसके बिना एक दिन नहीं रह सकते। या यूँ कहें तो इसके बिना शायद जीवन की कल्पना करना नहीं चाहते, किन्तु "अति सर्वत्र वर्जयते" कहावत ठीक ही बैठती है। उदाहरण स्वरूप चाय में अधिक मीठा डालने से स्वाद का स्वाद, चाय कम शरबत हो जाता है। ठीक उसी प्रकार समाज व्यवस्था के विकास से इन सोशल मीडिया के अत्यधिक तेजी से अंधापुंथ उपयोग से बुरा प्रभाव पड़ा है।

सामाजिक मीडिया द्वारा प्रभावित होने वाले क्षेत्र

परिवारिक क्षेत्र

आज परिवार के सभी सदस्य इस तकनीकी युग में काफी व्यस्त रहते हैं। जिससे अब वे पारिवारिक सदस्यों के बीच जो भावनात्मक एवं संवेगात्मक रूप से जुड़ने का समय नहीं मिलता है। अब जो

व्यक्ति की संचार का इतना उपयोग हो रहा है कि एक घर में रह रहे बच्चे और माता-पिता भी अपने बच्चे से व्हाट्सएप द्वारा मैसेज भेजकर बातें करते हैं। परिवार के सदस्य यदि एक साथ मिल भी जाते हैं तो आपस में कोई दूसरी चीजें शेयर तो कर लेते हैं पर अपना मोबाइल एक-दूसरे सदस्यों से शेयर नहीं करना चाहते। क्या बच्चे आपने सोचा है ऐसा क्यों? इससे अकेलापन, अन्तर्मुखी एवं व्यक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है जबकि तीन दशक पहले यदि मोहल्ले में किसी एक व्यक्ति के पास फोन होता था तो भी मोहल्ले के सभी व्यक्तियों का संदेश उस व्यक्ति द्वारा सम्बन्धित व्यक्ति को भ्रम हो जाता था। अर्थात् मोहल्ले के सभी सदस्य आपस में आकात्मक एवं संवेगात्मक रूप से जुड़ जाते थे और आपसी सम्बन्ध का विकास होता था। आज परिवार में सदस्यों के बीच आपसी समरसता उत्पन्न नहीं हो रही है। इससे बच्चों के प्रति कुलपुत्रात्मक भाव एवं नैतिक अन्वेषण से अभिभावक परेशान हैं।

भाषा विज्ञान के क्षेत्र

आज सोशल मीडिया के व्हाट्सएप के मैसेज को ही देख लीजिए। इसके तैकड़ों उदाहरण आपके सामने हैं। जैसे-हिन्दी में नमस्ते की जगह हाथ जोड़े चित्र लगा देते हैं। प्लीज की जगह Plz लिख देते हैं, All is well लिखना हो तो A is और घंटी का चित्र, अंग्रेजी में You are welcome की जगह UR घंटी का चित्र लगा देते हैं। इसका अन्व दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि किशोर एवं युवाओं में भाषा शैली, पत्र-लेखन कला, अपनी बात भावों को स्पष्टात्मक रूप से प्रस्तुत करने कला विलुप्त विलुप्त होने की दिशा में जा रही है। हिन्दी की वर्तनी हो या अंग्रेजी का वाक्य दोनों ही दुष्प्रभावित हुए हैं। क्या कभी आपने सोचा है कि यह बीन-सी भाषा है? वह एक नई भाषा एवं संस्कृति को जन्म दिया है जिसमें कोई शब्द + संकेत या तस्वीर लगाकर अपनी बात को मैसेज में भेजते हैं जो कि आने वाली पीढ़ी के लिए घातक सिद्ध होगा। किशोर में न पूर्णतः हिन्दी और न ही पूर्णतः अंग्रेजी भाषा का अधिकार हो पायेगा, साथ ही साथ कभी-कभी इस भाषा द्वारा अर्थ का अनर्थ भी सामने देखने को मिलता है। जिससे आपसी मन-मुटाप, रंजिश, चरित्रहीनता तक की बात हो जाती है।

सामाजिक क्षेत्र

कुछ किशोर या युवाओं द्वारा अपने मोहल्ले में किसी पड़ोसी से जिससे थोड़ी भी रंजिश, तनाव या झगड़ा होने पर उसकी बुराई के लिए सोशल मीडिया पर उसकी फोटो डालकर कुछ अपशब्द लिखकर मैसेज भेज देते हैं। कभी-कभी फोटोशॉप के माध्यम से उसके फोटो के साथ अरलील फोटो जोड़कर प्रस्तुत कर देते हैं जो

एक सोशल क्राइम है। इससे समाज में न सिर्फ उसके बलिष्ठ पूरे मोहल्ले, समाज एवं देश के लिए शर्मसार हो जाता है। उस व्यक्ति या युवती इस आधुनिकता के प्रतीक नवीनतम आविष्कार क्रान्ति सोशल मीडिया के दुरुपयोग के शिकार हो जाते हैं इस तरह के फेसबुक पर अधिकांशतः फोटो देखकर एक-दूसरे को दोस्त बनाते हैं। इससे कुछ लोग आपस में एक-दूसरे को पसन्द करने लगते हैं। वे धीरे-धीरे इन्टरनेट चैटिंग के द्वारा प्रेम प्रसंग का रूप ले लेता है। जब कभी विपरीत लिंग, महिला पुरुष का आमना-सामना होता है तो पैर तले जमीन निकल जाती है। वास्तविक रूप और फेसबुक पर की फोटो से काफी अन्तर होता है। उसके सपने टूट जाते हैं। एक-दूसरे को अपशब्द, गाली-गलतीयें यहां तक हिंसात्मक व्यवहार का भी प्रदर्शन हो जाता है।

राजनीतिक क्षेत्र

आधुनिक समय में राजनीतिक क्षेत्र में दुष्प्रभाव काफी अधिक है। आजकल देश के सभी राजनेता लोगों को ही देख लीजिए, चाहे कोई 'सत्ता पक्ष' हो या 'विपक्ष' के नेता किसी प्रकारण में एक राजनीतिक विचारधारा पर किसी नेता के द्वारा किसी कार्य का समर्थन करते हुए ट्विटर पर कोई मैसेज ट्विट कर देते हैं तो बस क्या है। आगे समर्थकों और विरोधियों के कार्यक्षेत्र अब कुकक्षेत्र की रणभूमि की तरह ट्विटर पर संदेशों का तांता लग जाता है इसमें जो भाषा का प्रयोग अभद्रता, लांछन, तीखा प्रहार होता है। यहाँ तक कि आजकल इसके माध्यम से किसी भी व्यक्ति को टारगेट किया जा सकता है।

धार्मिक क्षेत्र

धार्मिक क्षेत्र में और भी बुरा हाल है। आप किसी भी धर्म के आराध्य देवी-देवता की फोटो लगाकर उनके अच्छे विचारों की दो-तीन पंक्तियाँ लिखकर उसे लाइक कर सोशल मीडिया के किसी भी प्लेटफार्म पर (फेसबुक, व्हाट्सएप, यू-ट्यूब, ट्विटर) डाल देते हैं साथ में आप ये लिखना न भूलें कि आपकी हर ईच्छा पूरी होगी यदि आप इसे 11 या 21 लोगों को मैसेज भेज देंगे। आधुनिकता के इस युग में जहाँ बुद्धिजीवी लोग अमेरिका, जापान, चीन आदि विकसित देशों में '7 जी' नेटवर्क लांच हो रहा है वहाँ भारत में किशोर एवं युवाओं द्वारा 4 जी नेटवर्क में केवल मैसेज डालकर अपनी गरीबी, भुखमरी एवं भ्रष्टाचार दूर करने के लिए मैसेज-मैसेज खेल रहे हैं। क्या कभी आपने सोचा है? वह कैसा विडम्बना है जो भारत में फलफूल रही है। टी.वी. पर धार्मिक गुठ को देख लें, किसी व्यक्ति की समस्या का निदान वे समोले या रसगुल्ला खिलाकर दे रहे हैं आदि। इतना ही नहीं एक धर्म के

धर्मगुरुओं द्वारा दूसरे धर्म के प्रति हीन भावना व्यक्त किये जाने से अन्य धर्म के लोग ठेस पहुंचते ही एक-दूसरे के प्रति हीनता, द्वन्द, द्वेष, कभी-कभी तो दंगे का रूप भी ले लेते हैं।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र

वर्तमान में किशोर एवं युवाओं सोशल मीडिया से इतने जुड़े हैं कि अब इनको नशा या लत के रूप ले लिया है। इसमें अपना घंटों समय व्यतीत करने लगे हैं जिसके कारण अपने परिवार के सदस्यों के साथ जितना समय दिया जाना चाहिए या यूँ कहें कि ध्यान देना चाहिए नहीं दे पाते हैं। इससे संगैमात्मक, सामाजिक, भावात्मक रूप से आपसी जुड़ाव या लगाव दिनों-दिन कम होते जा रहा है। इस प्रकार जहाँ मनोवैज्ञानिक रूप से आपसी प्रेम, भाई-चारा, सहिष्णुता बढ़ने की बजाय नैतिक मूल्यों में गिरावट दिखाई दे रही है।

शारीरिक विकास क्षेत्र

वर्तमान समय में देखने में आ रहा है कि किशोर एवं युवाओं में 'आउटडोर एक्टिविटी' बन्द सी होती दिखायी दे रही है। एक ही जगह पर बैठे, लेटफर एवं कुछ जंक फूड खाते रहने से उनमें तरह-तरह की बीमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं। जैसे-मोटापा, उच्च रक्तचाप आदि। इससे व्यक्ति के शारीरिक विकास एवं व्यवहार में परिवर्तन दिखाता है। उनमें चिड़चिड़ापन, आक्रोश, धैर्य की कमी आदि। इस तरह के नैतिक मूल्यों का ज्ञान होते हुए दिख रहा है।

शिक्षा क्षेत्र

जो किशोर एवं युवा शिक्षा क्षेत्र के इस सोशल मीडिया से जुड़े हैं वे सभी किसी विषयवस्तु शीर्षक पर नवीनतम ज्ञान समय से पूर्व प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक कि उन्हें जो उनकी उम्र के पढ़ाव पर नहीं जानना था वह भी जान लेते हैं। अर्थात् समय से पूर्व ही सबकुछ जान लेते हैं इससे वे अपनी कक्षा में शिक्षक द्वारा पाठ्यक्रम की पढ़ाई में उदासीन होते हैं क्योंकि वे पहले से ही वे बातें जान चुके होते हैं। कक्षा में बातचीत करना, अनुशासनहीनता, गंदी हरकतों का व्यवहार करना प्रायः देखने में आता है। ये आज शिक्षक के सामने चुनौती के रूप में हो रही है। कभी-कभी तो छात्र कक्षा में पीछे मोबाइल लेकर सोशल मीडिया से जुड़े रहते हैं। शिक्षक द्वारा पूछे जाने पर वे झूठ बोल देते हैं कि आपका व्याख्यान रिकॉर्ड कर रहा हूँ। इस तरह के नैतिक मूल्यों का ज्ञान हो रहा है।

खेलकूद का क्षेत्र

आजकल विशेष रूप से किशोरावस्था के छात्र ऐसे सोशल मीडिया पर वीडियो गेम उपलब्ध है जिनके प्रयोग से वे आत्मइत्या की घातक घटना तक पहुँच रहे हैं। युवाओं में विभिन्न तरह के खेलों

(क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी आदि) में भी सड़ेबाजी, जुआ आदि अनैतिकता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में आ रहा है।

कार्यक्षेत्र

कार्यक्षेत्र में सोशल मीडिया का उपयोग वर्तमान में कार्यरत व्यक्तियों द्वारा अधिकांशतः किया जा रहा है जिससे उनकी कार्यक्षमता में विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। कार्यक्षमता का भरपूर उपयोग नहीं हो पा रहा है जिससे उत्पादकता एवं गुणवत्ता में ज्ञास पाया जा रहा है। जैसे- परीक्षा भवन में शिक्षक वर्ग द्वारा मोबाइल पर सोशल मीडिया से जुड़े रहना, संसद सत्र में नेताओं द्वारा अपने मोबाइल पर अनैतिक वीडियो की देखा जाना आदि।

उपरोक्त विवेचनाओं से स्पष्ट है कि सोशल मीडिया से आज काफी इतक तक नैतिक मूल्यों के इनन को बढ़ावा मिल रहा है।

सामाजिक मीडिया द्वारा नैतिक मूल्यों पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों के उपाय

दुनिया के बुद्धिजीवी लोग ऐसे तरीके ढूँढने की कोशिश में हैं जो आधुनिकता को खारिज नहीं करते मगर उनकी समस्याओं को दूर करने का प्रयास जरूर करते हैं। किसी भी समाज के राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास के लिए शिक्षा एक आधारभूत एवं सबल साधन है जिसके माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ज्ञान एवं अनुभव को रूपान्तरित किया जाता है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जी का कहना ठीक ही था कि "शिक्षा का उद्देश्य चरित्र और मानव मूल्यों का विकास करना, तकनीकी के द्वारा सीखने की सामर्थ्य बढ़ाना और बच्चों में भविष्य का सामना करने का आत्मविश्वास का निर्माण करना है।" शिक्षा के क्षेत्र में सबसे दिलचस्प प्रयोग तकनीकी साधनों के विकास एवं उसके उपयोग से पैदा होने वाली समस्याओं की रही है। शिक्षाविदों के मुताबिक रचनात्मक सवाल यह हमेशा से बनी रही है कि ऐसी पाठ्यपुस्तकें और कक्षाएँ कैसे रची जाएँ जो बच्चों को काल्पनिक दुनिया एवं प्रतिस्पर्धा नरेशन की बजाय परस्पर सहयोग के माध्यम से आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करें।

1. घर का पारिवारिक माहौल- कहते हैं कि प्रथम पाठशाला तो बच्चे का घर होता है और प्रथम शिक्षिका माँ। बच्चों में इसी माहौल से सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की नींव पड़ती है। बच्चे अपने बड़ों के आचरण से ही सीखते हैं। इसलिए जरूरी है कि परिवार के अन्य बड़े सदस्य सोशल मीडिया की लत से दूर रहें।

1. **अभिभावक-** अभिभावक अपनी अनमोल सम्पत्ति संतान से क्या बौद्धिक सम्पत्ति का ध्यान रखते हैं। वे जबरन की चीजों को सम्पन्न बनाकर, स्कूल भेजकर अपना कर्तव्य पूरा समझते हैं। वे सोच नहीं हैं। अभिभावक को चाहिए कि बच्चों के लिए क्या करना है, उनकी क्षमता, रुचि, अभिरुचि की पहचान करें, अभिभावक को सबसे ज्यादा जागरूक बनाया जाना चाहिए ताकि वे सोचें कि अपने बच्चों के लिए क्या सही है और क्या गलत है। केवल बच्चों में मल्टीमीडिया फोन से दूर रखें इससे तार्किक सोच का विकास की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

2. **शिक्षा-** शिक्षा के माध्यम से यह समझाया जाये कि आपके बच्चे मल्टीमीडिया फोन है न कि आप इसके लिए। स्कूल एवं कॉलेजों में इससे सम्बन्धित निष्पत्ति, लाभ-हानि एवं इसके अन्य उपयोग कैसे हो सके, पाठ्यक्रम में एक पाठ के रूप में जरूर जोड़ें, ताकि बच्चे जागरूक हो सकें। अभिभावकों के लिए अतिरिक्त शिक्षा के रूप में विभिन्न स्थानों पर नाटक, नुक्कड़, एक्टिंग फिल्म दिखाकर जागरूक किया जा सकता है। शिक्षा को सही ढंग के लोगों में इसके प्रति उचित उपयोग की बौद्धिक क्षमता को बढ़ावा दिया जा सकेगा।

3. **राजनीतिक इच्छाशक्ति-** ज्यादातर उपभोक्ता दस से बार्स तक के लोग होते हैं। इन नये वोटों को राजनीतिज्ञ लोग नाराज नहीं बना सकते। सभी दलों के नेताओं को वोट की राजनीति में उन उठकर कड़े नियमों के निर्माण एवं क्रियान्वयन पर सहमत होकर एक पॉलिसी बनानी होगी। मीडिया स्वतंत्र रहे पर मीडिया में राजनीति का हस्तक्षेप होना इमेशा बुरा नहीं होता है। उन मीडिया को जो भ्रष्टाचार, सम्प्रदाय एवं केवल सत्ता पक्ष के हित में लगे हैं, पहचान कर खतरा किया जाना चाहिए। राजनीतिक चेतना जितनी अधिक होगी और उसका विस्तार जितना अधिक होगा, लोकतंत्र और समाज दोनों के लिए हितकारी होगा।

4. **सरकारी प्रावधान-** सरकार की तरफ से सोशल मीडिया के कड़े प्रावधानों को प्रशासनिक रूप से पूर्णतः लागू किया जाना चाहिए। उन कानूनी प्रावधानों को जनता के बीच जागरूकता फैलायी जानी चाहिए। यह एक नीति बनाकर 'औपचारिक एवं अनीपचारिक शिक्षा' के तहत पूरे देश में लागू किया जाना चाहिए। सभी तरह के उपभोक्ताओं की उस को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम बनाकर 'प्रो-ग्राइमरी से हायर एजुकेशन' तक और प्रौढ़ शिक्षा से सर्व शिक्षा अभियान तक में प्रावधान किया जाना चाहिए।

5. **अन्य प्रावधान-** फर्जी आई.डी. के विरुद्ध कार्यवाही, इसकी पहचान कर कड़ी सजा एवं कानूनी प्रावधान किये जायें। भविष्य

में ऐसा न हो इसके लिए कोई पहचान पत्र जैसे आधार कार्ड से जोड़ा जाय।

सोशल मीडिया पर वायरल हो रहे अनैतिक एवं असामाजिक सूचनाओं की जांच एवं त्वरित संस्था द्वारा की जानी चाहिए। उसे फैलाये जाने वाले लोगों पर कड़ी सजा का प्रावधान हो।

समाचार पत्रों, टी.वी. एवं अन्य सूचना संचार द्वारा 'वायरल सच एवं झूठ' का खुलासा दिया जाना चाहिए जिससे जनता में इसके प्रति सही-गलत की समझ आ सके।

सोशल ब्राइम एवं साइबर जैसे सामाजिक मीडिया के लिए नई समस्या बनकर आ रही है इसको ध्यान में रखते हुए विशेष कार्यक्रम निर्माण किये जायें जिसमें केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार दोनों ही सहयोगी बनें। कुछ साइटों को प्रतिबंधित किया जाये जिसके द्वारा आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता एवं आत्महत्या (वीडियो गेम) जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले।

अंत में सारांश के रूप में यह कहना चाहता हूँ कि आधुनिकता के लाभों को संभाले बिना उसको पूरा का पूरा खारिज कर देना स्वयं को पुनः अंधकार युग में डकेल देने का कृत्य होगा। संभवतः यह बेहतर होगा कि बहुत सारे संवैधानिक सुधार एवं आधुनिक युग पर केन्द्रित किये जायें, इसके लिए हमें ऐसी शिक्षा व्यवस्था की रचना करनी होगी जो हमारी मानवीयता को बढ़ावा दे वा ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसमें व्यक्तियों के मध्य आपसी समरसता को बढ़ावा दे सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि तकनीकी विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास मूल्यपरक रूप से संतुलन बना रहे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गुला, अशा, बच्चे हमारे आचरण से सीखते हैं उपदेश से नहीं, वैचारिकी, नवम्बर-दिसम्बर 2015, भाग-31, अंक-6, आईएसएन नं. 0975-6531, पृ. 73-74
2. कड़ेला, एन.पी., विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा, किनोद पुस्तक मन्दिर, अगसा-2, पृ. 592
3. सहाय, मनोरंजन, भारतीय धार्मिक सामाजिक-सांस्कृतिक क्षय का कारण सोशल मीडिया, वैचारिकी, सितम्बर-अक्टूबर 2017, भाग-33, अंक-5, आईएसएन नं. 0975-6531, पृ. 75-78
4. शर्मा, सुरेश एवं शर्मा, उषा, लोकतंत्र में मूल्य एवं शांति शिक्षा, सिद्धिधर और वेन्ज (बदलाव का संकेत), साहित्य संस्कृति और शोध की पत्रिका, अंक-3, जून-दिसम्बर, 2016, विशेषांक : लोकतंत्र में मूल्य, शांति और शिक्षा, पृ. 161-164

Drishtikon

Certificate of Publication

is awarded to

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

भक्ति आन्दोलन एवम् समरसता

Published in *Drishtikon* Journal Vol-11, Issue-06 Year 2019 ISSN: 0975-119X

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed



UGC
University Grants Commission

S.N. Sharma

S.N. Sharma
Editor-in-Chief
editor@hindijournals.org



EDUINDEX

भक्ति आन्दोलन एवम् समरसता

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी¹, अभिषेक चारण²

¹निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्व भारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय),

लाडनू-341306 (राजस्थान)

²सहायक आचार्य (हिन्दी), जैन विश्व भारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय),

लाडनू-341306 (राजस्थान)

आलेख सार

भक्ति आन्दोलन जिन परिस्थितियों में आरम्भ हुआ उसका प्रथम उद्देश्य तमाम तरह के विभेदों को मिटाकर समता मूलक समाज की रचना करना था। तत्कालीन समाज छुआछूत और ऊँच नीच जैसी तमाम बुराइयों से आक्रान्त था इन बुराइयों से मुक्ति के लिए एक ऐसे आन्दोलन की जरूरत थी जो सामुदायिक संरचना में समूल परिवर्तन का पुरोधा बन सके।

भक्ति आन्दोलन तमाम के तमाम सुधारवादी सन्तों ने एक स्वर से ना केवल खोखले कर्म-काण्डों और धर्म की आड़ में जारी पाखण्डों का विरोध किया अपितु जाति-पांति वर्ग भेद और वर्ण भेद की मानसिकता में जकड़े समाज को सौहार्द और सहिष्णुता से परिपूर्ण एक नवीन जीवन दृष्टि दी। एक ऐसी जीवन दृष्टि जिसमें म्लैच्छ और विधर्मियों तक के लिए भी कहीं कोई घृणा नहीं-नफरत नहीं थी।

कुल मिलाकर यह समग्र आन्दोलन ना केवल भारतीय धर्म और समाज बल्कि समग्र सृष्टि के लिए नया विहान लेकर आया। धर्म के नाम पर चली आ रही बरसों पुरानी भ्रान्त धारणाओं के स्थान पर युगानुकूल और तर्क सम्मत अवधारणाओं की स्थापना इस पूरे आन्दोलन की महानतम उपलब्धियों में से है।

मुख्य शब्दावली

1. सूफ़ी सम्प्रदाय- मुस्लिम संत कवियों द्वारा प्रवर्तित एक सम्प्रदाय जिसके अनुयायी सूफ़ (ऊन) से बने कपड़े पहनते थे।
2. भक्ति आन्दोलन- 1375 से 1700 तक के काल खण्ड में कतिपय सन्त कवियों द्वारा प्रवर्तित एक पूर्णतया मानवीय और व्यापक आन्दोलन।
3. सगुण भक्तिधारा- यह भक्ति धारा ईश्वर के साकार रूप की उपासक थी।
4. निर्गुण भक्तिधारा- यह ईश्वर के निराकार स्वरूप की आराधक थी।
5. एकेश्वरवाद- एक ईश्वर की उपासना करने वाली विचारधारा।

प्रस्तावना

भक्ति आन्दोलन का काल विद्वानों ने 1375 से 1700 विक्रमी सम्वत् तक माना है। इस काल खण्ड में भक्त कवियों ने कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी बहाते हुए जो अमर काव्य रचनाएं की वे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य ही वस्तुतः धर्म का प्राण तत्व है और इन्हीं तीनों की मौजूदगी में ही धर्म गतिशील रहता है। कर्म के बिना ज्ञान निरा वाग्जाल है तो ज्ञान के बिना भक्ति अंधेरे में तीर चलाने का उपक्रम भर होकर रह जाती है वहीं भक्ति के बिना कर्म और ज्ञान दोनों ही अप्रासंगिक हो जाते हैं। कुल मिलाकर इन तीनों का सामंजस्य ही हमें एक सन्तुलित जीवन दर्शन की ओर प्रवृत्त करता है जो प्राणि मात्र के लिए श्रेयष्कर है।

इस आन्दोलन के आधार स्तम्भ कहे जाने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में श्री संप्रदाय, ब्रम्ह संप्रदाय, रुद्र संप्रदाय और सनकादि संप्रदाय प्रमुख हैं। इन्हीं के समानन्तर एक अलग तरह का सम्प्रदाय भी विकसित हुआ जिसे सूफ़ी सम्प्रदाय के नाम से जाना गया। चूंकि भक्ति आन्दोलन पूर्णतया मानवीय और व्यापक आन्दोलन था इसलिए इसमें हिन्दू-मुस्लिम या तथाकथित ऊँच-नीच या बड़े छोटे की संकुचित मानसिकता के लिए कहीं कोई जगह नहीं थी। सर्वर्ण- अछूत जैसी धारणाओं को खंडित करना तो इस आन्दोलन का जैसे मुख्य उद्देश्य ही था तभी तो गुरु नानक सरीखे सन्तों ने लिखा -

एक नूर तें सब जग उपज्या,
कौन भले, कुण मन्दे??

इसी प्रकार कबीर जैसे क्रान्तिकारी विचारकों ने तत्कालीन सामाजिक संरचना में दीमक की तरह पैठ चुके, कर्मकाण्डों और अर्धशून्य बाहरी विधि विधानों, तीर्थाटन, पर्व, स्नान, और तमाम दिखावों को निरर्थक बताते हुए धर्म के मर्म को समझने का आव्हान किया।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में ना केवल हिन्दू, जनता बल्कि देश में बसने वाले सहृदय मुसलमान भी आ गये। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दूओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ सं. 62) -

वस्तुतः भक्ति आन्दोलन का मूल उद्देश्य ही तमाम तरह के भेदभावों और ऊँच नीच को मिटाकर एक समता मूलक समाज की रचना करना था जिसमें जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म के भेद से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को एक नयी अर्थवत्ता और पहचान दी जा सके। इस दृष्टि से नामदेव और रामानन्द जैसे सन्तों का अवदान उल्लेखनीय था। इसके अलावा निर्गुण मत के प्रवर्तक कबीर जैसे सुधारक भी अपने पूरे जीवनकाल में एक ओर जहां-‘दुड़ जगदीश कहाँ ते आये’ की टेर के साथ एकेश्वरवाद की अवधारणा को पुष्ट करते रहे वहीं नानक देव जी जैसे महान पन्थ प्रवर्तकों ने भी प्रकारान्तर से इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा -

हिन्दू कहूं तो मारिये, मुसलमान भी नायं।

पांच तत्व का पूतला नानक मेरा नाम॥

यह सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का एक निश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रम्हवाद की ओर झलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर। यह 'निर्गुण पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जाने वाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच नीच और जाति पांति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान

अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में नामदेव और रामानन्द जी द्वारा हुआ।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ-64)

भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तकों में से प्रमुख कबीर और नामदेव ने एकेश्वर वाद के अनुमोदन के अलावा कदम कदम पर समता मूलक समाज की परिकल्पना को भी मूर्त रूप देने का प्रयास किया। यहां कुछ उदाहरण ही इस बात को पुष्ट करने के लिए काफी हैं:-

एकै पाथर कीजै पाऊ। दूजे पाथर धरिए पाऊ।
जै इहु देऊ उहू भी देवा। नामदेव कहि हरि की सेवा॥

- नामदेव

पत्थर पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
तां तैं या चाकी भली, पीस खाय संसार॥

- कबीरदास

कहा करउ जाती, कहा करउ पाती।
राम का नाम जपऊ दिन राती॥

- नामदेव

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिये जान।
मोल करो तरवारि का पड़ा रहन द्यौं म्यान॥

- कबीरदास

हिन्दू अन्धा तुरकू काणा, दोहां ते गिआनी सिआणा
हिन्दू पूजै देहरा मुसलमान मसीत।
नामैं सोई सेविया जह देहरा ना मसीत।

- नामदेव

कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

- कबीरदास

- (सन्दर्भ-हिन्दी को मराठी सन्तों की देन- डॉ. विनय मोहन शर्मा)

सामाजिक दृष्टि से इन सन्तों की विचारधारा का मूल्यांकन करने पर यह भली भांति स्पष्ट होता है कि उन्होंने समाज को एक नवीन क्रान्तिकारी एवम् प्रगतिशील दृष्टिकोण दिया, वेद-शास्त्र एवम् पुराने ग्रन्थ ही सब कुछ नहीं है तथा सत्य की कसौटी शास्त्र नहीं अपितु आत्मानुभूति है-इस सत्य की घोषणा करते हुए उन्होंने समाज के सामने ऐसा स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसे आज की शब्दावली में 'वैज्ञानिक' एवम् 'प्रगतिशील' कहा जा सकता है। यही वह दृष्टिकोण है जिसके बल पर कोई भी समाज परम्परागत रूढ़िवादिता एवम् वर्ग विशेष की मानसिक प्रभुता से मुक्ति पा सकता है। दूसरे, उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति की, फिर चाहे वह शुद्र हो या ब्राम्हण, हिन्दू हो या मुसलमान, गृहस्थ हो या साधक, मोची, धुनिया अथवा जुलाहा हो या लखपति व्यापारी हो-सभी की, समानता की घोषणा करके भारतीय साम्यवाद की पुनः प्रतिष्ठा की।

(हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, पृष्ठ सं. 172)

रामानन्द, रैदास, नानक, कबीर, दादू दयाल, सुन्दर दास, मलूकदास, रज्जब दास, पल्लू साहब, सहजो बाई, दया बाई और नानकदेव आदि महान सन्तों ने समय मानवता के लिए सामाजिक समरसता से भरपूर एक अलग तरह की दृष्टि दी जो उस युग की एक बड़ी जरूरत थी। वर्णाश्रम व्यवस्था में बँटे हिन्दू समाज में निम्न वर्ग की दयनीय दशा में सुधार के लिए इन दयालु सन्तों ने जो अलख जगायी उसी का परिणाम है कि शनै-शनै समाज का दलित तबका भी स्वाभिमान के साथ जीने लगा। भक्ति आन्दोलन के दौरान राजस्थान में भी सामाजिक समरसता का इतिहास रचा गया जिसके प्रणेता 'पञ्च पीरों' में से एक और पूरे पश्चिमी भारत में विष्णु के अवतार के रूप में पूजित बाबा रामदेव जी थे-वैसे पांच पीरों के रूप में विख्यात रामदेवजी, हरबू जी सांखला, पाबू जी राठौड़, मेहाजी मांगलिया और गोगाजी चैहान ने भी समतामूलक समाज की रचना में कम योगदान नहीं दिया था।

संयोग से ये पाँचों ही पीर सद्ग्रहस्थ थे सामाजिक ढाँचे के शिखर पर स्थित क्षत्रीय वर्ग से थे। इनमें से रामदेव जी तंवर, गोगाजी चैहान, मेहाजी मांगलिया, हरबूजी सांखला और पाबू जी राठौड़ गौत्र के राजपूत थे। इसकी साक्षी के रूप में ये दोहा प्रचलित है:-

पाबू, हरबू, रामदे, मांगलिया मेहा।

पांचू पीर पधारज्यो सिद्ध गोगा जेहा।।

इतिहास साक्षी है कि रामदेव जी ने उस समय के समाज में दलित समझे जाने वाले मेघवालों के साथ उठने बैठने की वजह से सामाजिक बहिष्कार तक झेला वहीं पाबू जी राठौड़ ने थोरी (नायक) जाति के योद्धाओं को अपनी सेना में उच्च पदों पर आसीन कर सम्मानित किया। पाबूजी के सेना नायक चांदा और डामा नायक जाति से थे जिनकी गिनती अछूतों में होती थी।

इसी प्रकार गोगाजी चौहान ने भी अपनी सेना नायक, थोरी और मेघवाल समाज के योद्धाओं को शामिल कर एक नये सामाजिक समीकरण की रचना की जिसमें ऊँच नीच और छुआछुत के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था।

इन्हीं के समान्तर मरू मन्दाकिनी के विरुद्ध से विभूषित भक्तिमति मीरां बाई और गागरोन के पूर्व शासक सन्त पीपाजी के नाम भी आते हैं जिन्होंने अपनी जाति वर्ण को छोड़कर एक अलग समुदाय बनाया जिसमें ऊँचनी और बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं था।

समरसता का यह भाव बोध इतना दृढ़ था कि इससे ना केवल हिन्दू समाज में ऊँच नीच का फर्क मिटा बल्कि जिन मुसलमानों को म्लैच्छ और विधर्म कहकर तिरस्कृत किया जाता रहा था उन्हें भी एकाकार कर एक स्वस्थ और सहिष्णु समाज की रचना का प्रारूप आकार लेने लगा। भक्ति आन्दोलन के दौरान विभिन्न सन्तों-कवियों के पदों और वाणियों का समवेत स्वर समता मूलक समाज की आधार भूमि बनकर उभरा।

निष्कर्ष

भक्त की एक सुन्दरसी परिभाषा कहीं पढ़ने में आयी की भक्त वो है जो विभक्त नहीं है अर्थात् जो ईश्वर की बनाई हुई इस सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकात्म है एकाकार है वो ही भक्त है। दूसरे शब्दों में कहें तो नवधा भक्ति में वर्णित भक्ति के तमाम रूपाकारों की सामूहिक विशेषता 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' है।

भक्ति हमें समर्पण सिखाती है, सौहार्द और सहिष्णुता सिखाती है और सबसे बड़ी बात ये कि भक्ति में अहंकार का विसर्जन होता है और जहाँ अहंकार विसर्जित हो जाता है वहीं से समता और समानता शुरू होती है क्योंकि ऊँच-नीच और छोटे बड़े का भेद अहंकार की वजह से ही

होता है। इस पूरे काल खण्ड में ऐसे अनेक सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी शिक्षाओं में प्राणि मात्र में एक ही ईश्वर का प्रतिरूप बताया तथा समस्त संसार को उसी एक परम ज्योति का अंश बताया-समस्त जड़ चेतन में उसी परम सन्ता की ध्याप्ति का यह अमर सन्देश ही प्रकारान्तर से सामाजिक समरसता का आधार बना।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वर्मा, डॉ. रामकुमार (2010), 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'-लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद।
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (1929), "हिन्दी साहित्य का इतिहास"-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
3. त्रिपाठी, आचार्य विश्वनाथ (2012), "हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास"-Orient Blackswan Pvt. Ltd.
4. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (1986), "हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास"-लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद।
5. गुप्त, डॉ. गणपतिचन्द्र (दसवां संस्करण-2013), "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास"-लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद।
6. डॉ. नगेन्द्र (1973-2014), "हिन्दी साहित्य का इतिहास" (सम्पादित)-मयूर पेपरबैक्स, जयपुर।
7. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद (2015), "हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास"-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
8. मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद (2012), "हिन्दी साहित्य का अतीत"-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. शर्मा, डॉ. नलिन विलोचन (1960-97), "हिन्दी साहित्य का दर्शन"-बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
10. सिंह, डॉ. बच्चन (1996), "हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास"-राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
11. (1957-84), "हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास"-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

Drishtikon



Certificate of Publication

is awarded to

आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रह

Published in *Drishtikon* Journal Vol-11, Issue-06 Year 2019 ISSN: 0975-119X

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed

ज्ञान-विद्यया-नेषत्कुर्यात्

S.N. Sharma

S.N. Sharma

Editor-in-Chief

editor@hindijournals.org



UGC

University Grants Commission



श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रह

मुनि पुलकित कुमार¹, प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी²

¹शोध छात्र, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू

²निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्वभारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनू -341306 (राज.)

सार-संक्षेप

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व कुरुक्षेत्र के समरांगण में मोहासक्त अर्जुन को श्री कृष्ण द्वारा दिया गया उद्बोधन 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहलाता है। यह हिन्दू मान्यता का सबसे पवित्र और लोकप्रिय अमूल्य ग्रन्थ रत्न है।

गीता को उपनिषदों का सार रूप में देखा गया है। गीता के आचार दर्शन का केन्द्रिय तत्त्व आसक्ति मुक्त अवस्था-अनासक्ति रहा है। अतः राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने गीता को अनासक्ति योगके रूप में व्याख्यायित किया है। भगवद्गीता में अपरिग्रह-परिग्रह शब्द का प्रयोग भले ही नगण्य रहा हो फिर भी 'अपरिग्रह' गीता का जीवन मन्त्र रहा है। इसीलिए भगवद् गीता में आशा (कामना और आसक्ति) रहित तथा अपरिग्रही (संग्रह रहित) संयमी योगी को एकान्त में निरन्तर आत्म साक्षात्कार का अभ्यास करने का निर्देश इस रूप में प्राप्त होता है- "एकाकी यत्चित्तात्मा नीराशीरपरिग्रहः।"¹

कूटशब्द: अपरिग्रह, अनासक्ति योग, विल्लेषणा, निस्पृह, कामनारहित, आसुरी प्रवृत्ति।

प्रस्तावना

गीता में उल्लिखित "त्यक्तसर्व परिग्रह"² की भावना यह संदेश देती है कि 'सभी प्रकार के परिग्रह या आसक्ति का त्याग ही व्यक्ति, परिवार तथा सामाजिक जीवन को उध्वगामी बनाती है और राष्ट्र के उत्थान का मार्ग भी प्रशस्त करती है। क्योंकि परिग्रह के अभाव में व्यक्ति कामना रहित हो जाता है, चित्त को वश में रखने वाला बन जाता है।'

लोभ नियंत्रण के लिए संतोष वृत्ति की प्रेरणा देते हुए कहा- 'जो सहज प्राप्त हो उसी में योगीजनों को संतुष्ट रहना चाहिए।' "यदृच्छा लाभ संतुष्टो"³

हिन्दुओं के प्रतिनिधि धर्मग्रन्थ माने जाने वाले श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रही वृत्ति का अनेक तरह से समर्थन मिलता है। वहां आसुरी प्रकृति वाले लोगों की धन संग्रह तथा लोभ वृत्ति के संदर्भ में कहा- आसुरी प्रवृत्ति के लोग स्वार्थवश जमीन, जायदाद, व्यक्ति, परिस्थिति में आसक्ति के कारण किसी से भी दुश्मनी मोल ले लेते हैं। यह शत्रुता ही व्यक्ति से बढ़ते-बढ़ते परिवारों, समाजों और राष्ट्रों तक व्याप्त हो जाती है। विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त असुर लोग अपवित्र नरक में जाते हैं।⁴

परिग्रही व्यक्ति की मानसिकता का विश्लेषण करते हुए कृष्ण कहते हैं-परिग्रही व्यक्ति आसुरी प्रवृत्ति करता है। परिग्रही की स्थिति त्रिगुण की दृष्टि से तामसिक और कुछ अंशों में राजसिक होती है।⁵ "लोभः प्रवृत्तिरारम्भः" अर्थात्-जब रजोगुण में वृद्धि हो जाती है तो अत्यधिक आसक्ति, अनियंत्रित इच्छा एवं लोभ-लालसा के लक्षण प्रकट होते हैं। रजोगुणी व्यक्ति पद, प्रतिष्ठा तथा इन्द्रियों से कभी भी तृप्त नहीं होता। संतुष्टि को प्राप्त नहीं करता है।⁶ काम, क्रोध तथा लोभ को नरक का द्वार और आत्मा का नाश करने वाले मानकर 'त्रयं त्यजेत्'⁷ कहा है। अर्थात् इनका परित्याग करना चाहिए।

साधना का प्रथम सोपान-'अनासक्ति' अथवा 'असंग' को विश्लेषित करते हुए गीताकार का स्पष्ट अभिमत इस रूप में देखने को मिलता है -'इन्द्रिय विषयों का बार-बार चिंतन करने से पुरुष में आसक्ति की स्थिति का निर्माण होता है। आसक्ति से कामवासना जागृत होती है। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आसक्ति के प्रभाव से विवेक, स्मरण शक्ति और अंत में ज्ञानशक्ति भी नष्ट हो जाती है जिससे वह साधक साधना से गिर जाता है।'⁸

वैराग्य प्राप्ति में बाधक 'मोह' को त्यागने की प्रेरणा में कहा- 'जब तेरी बुद्धि इस मोह दलदल से तर जाएगी तब तू सुनने योग्य बनकर वैराग्य को प्राप्त होगा।'⁹ 'जो मोह से रहित हैं, आसक्ति दोष को जीतने वाले हैं तथा सदा अध्यात्मभाव में स्थित होकर भौतिक कामनाओं से निवृत्त होते हैं, वे जानी पुरुष ही 'अव्यय' पद-मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'¹⁰

भौतिक पदार्थों से नित्य और सुखप्रद प्रतीत होने वाले सांसारिक भोगों को अनित्य, क्षणिक और दुःख मूलक समझकर उसमें मोहित न होना ही 'असम्मोह' है।¹¹

तीन प्रकार की एषणाओं में एक है- पुत्रैषणा। जिसका समाहार पारिवारिक आसक्ति के रूप में रहता है। इस आसक्ति के प्रभाव से ही मनुष्य के भीतर यह भाव जागता है कि- यह मेरी पत्नी, यह मेरा पुत्र, यह मेरा घर, यह मेरी दौलत आदि अनेक प्रकार के मोह जनित विचारधारा में वह बंध जाता है।

गीता में व्यक्ति को दारासक्ति, सुतासक्ति, देहासक्ति, धनासक्ति, मनासक्ति और इससे भी आगे कर्मफलासक्ति आदि सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहने की प्रेरणा दी गयी है। वहां माना गया है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थ के साथ व्यक्ति का विशेष मोह संबंध होने के कारण ही इनसे विशेष आसक्ति का भाव रहता है। अतः साधक को इन सब आसक्तियों से मुक्त रहना चाहिए। व्यक्ति "मुक्तसंग" हो।¹²

धर्मशास्त्रों में 'वित्तैषणा' का संबंध अर्थप्रधान मनोवृत्ति के साथ जोड़ा गया है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से संग्रह का भाव व्यक्ति के मन में सदा बना रहता है। परिग्रह को बढ़ावा देने में यह निमित्त भी बनती है अतः गीता के सोलहवें अध्याय में इस अर्थप्रधान मनोवृत्ति को "आसुरी वृत्ति" से संबोधित किया है। "आसुरी वृत्ति" वाला व्यक्ति यह इच्छा करता रहता है कि मैंने आज यह धन प्राप्त कर लिया है, मैं यह मनोरथ को प्राप्त करूंगा, यह

धन मेरा है और यह धन मेरा होगा-

"इदमद्य मया लब्धमिमं.....।"¹³

इसी संदर्भ में आगे कहा है- सैकड़ों आशापाश में बंधा हुआ "आशापाशतैबद्धा" काम-क्रोध परायण व्यक्ति विषय भोगों के लिए अन्याय से भी धनोपार्जन की चेष्टा करता है। चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, दम्भ, मारपीट, कूटनीति आदि उपायों द्वारा दूसरों के धन का हरण करने की चेष्टा करता है।¹⁴

धनासक्ति को वैर और विनाश का निमित्त माना गया है। आत्मा से दूर, विरक्ति से दूर रहने वाला इसमें लिप्त बना रहता है। इसी को गीता का भावानुवाद के रूप में प्रस्तुत करते हुये लिखा गया है- "जो लोग सदा धन-दौलत के विषय में ही सोचते हुये उसमें लिप्त रहना चाहते हैं, तथा निरन्तर लालसा करते रहते हैं। जिससे उनमें निराशा पैदा होती है, क्रोध पैदा होता है। उसके बाद भ्रान्ति पैदा होती है, उसके बाद धन की हानि और ज्ञान की हानि होती है। अंततः उसका विनाश हो जाता है।"¹⁵

श्रीमद्भगवद् गीता प्रायः समस्त वैदिक परम्पराओं का एक ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म आदि अनेक साधना भेदों को मान्यता दी गई है। कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता का कर्मयोग बहुत व्यापक स्तर पर प्रचारित व प्रसारित इसलिए होता चला गया क्योंकि वह लोक रुचि के अंगुल पड़ता है। कर्म प्रेरणा के प्रसंग में अर्जुन से श्री कृष्ण कहते हैं-

“कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन॥”¹⁶

अर्थात्- 'कर्म में ही तेरा अधिकार है अतः फल की आशा मत कर।' 'तस्माद् सकतः सततं कार्यं कर्म समाचर'-¹⁷ 'रागरहित अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर। 'जनक आदि ऋषियों ने भी तो कर्म करते हुए ही सिद्धि को प्राप्त किया है, अतः लोक संग्रह की दृष्टि से भी तुझे अनासक्त कर्म करना चाहिए।'¹⁸ 'विद्वान् पुरुषों को सदा 'असक्त'-अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।'¹⁹

कर्म करते हुए भी अनासक्ति का भाव रखने की साधना उत्कृष्ट कहलाती है तभी कहा गया है कि- 'करणीय कर्म को जो आसक्ति छोड़कर करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है।'²⁰ हे पार्थ! तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर्म कर यही मेरा निश्चयपूर्वक अभिमत है।²¹

“कर्मफलों से आसक्ति-ममता का त्याग करने वाला ही वास्तव में त्यागी है।”²²

भगवद्गीता के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि 'कर्म योग' उसका महामंत्र रहा है। परन्तु वह कर्म भी फल की आकांक्षा से रहित हो यह आवश्यक है। जो इस तरह के जीवन शैली को अपनाते हैं। ऐसे साधक को हम 'अफलाकांक्षी' कह सकते हैं। क्योंकि गीता में कहा भी है कि- 'कृपणाः फलहेतवः।'²³ 'फल की कामना के साथ कर्म करने वाला व्यक्ति कृपण या दीन कहलाता है।' व्यक्ति की दृष्टि कर्म पर होनी चाहिए न कि उसके फल पर। 'मनुष्य अपने कर्तव्यों का निष्काम भाव से सम्पादन करें।'

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'जब तक अनासक्ति की बात जीवन में नहीं उतरती तब तक अबलमुखता का विकास नहीं होता, उसे पदार्थ अच्छे लगते हैं। उसके भीतर कामना और आसक्ति विद्यमान होने से व्यक्ति निष्काम कर्म की चर्चा करते हुये भी वह वाणी का

विलास मात्र बनकर रह जाता है। गीता की अनासक्ति का सिद्धांत हमारे जीवन में तभी उतरना संभव है जब हम उसके प्रयोग जीवन में उतारे, साधना करें।²⁴

गीता के अनुसार निष्काम कर्म का अर्थ संसार की सभी क्रिया (कर्म) में ममता और आसक्ति का त्याग है। कर्म दो प्रकार के होते हैं (1) आसक्त कर्म और,

(2) अनासक्त कर्म। प्रायः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है। आसक्ति ही कर्म करने की प्रेरणा देती है। अतः कर्मयोगी को आसक्ति पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। तभी तो कहा गया है-“त्यक्ता कर्म फलासंगः”²⁵ “अफलप्रेत्सुना कर्म”²⁶ “न मे कर्मफले स्पृहा”²⁷ आदि सूत्र कर्मफलाशा त्याग का उद्घोष करते हैं।

साधक योगी को “पद्मपत्रमिवाम्भसा”²⁸ के उदाहरण से प्रेरणा दी है कि- वह ‘जलकमलवत्’ बना रहें। अर्थात्-कर्म करता हुआ निर्लिप्त रहे, सम्पूर्ण कर्तव्यों को आसक्ति रहित ‘अनासक्त’ भावों से ही करें।²⁹ इस तरह भगवद्गीता के प्रायः सभी अध्यायों में अपरिग्रह की वृत्ति को सम्पोषण देने वाले अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं। यहां अपरिग्रह का अर्थ मात्र भौतिक वस्तुओं के परिग्रह (आर्थिक पक्ष) का निषेध ही नहीं है अपितु सभी प्रकार की आंतरिक आसक्तियों से मुक्ति का दूसरा नाम “अपरिग्रह” स्वीकारा गया है।

स्वामी चिन्मयानंद के अनुसार परिग्रह की व्याख्या इस प्रकार है-‘विषयासक्त पुरुष की प्रवृत्ति अधिकाधिक धन और योग्य वस्तुओं का संग्रह करने में होती है। उचित या अनुचित साधनों के द्वारा आवश्यकता से अधिक केवल भोग के लिए पदार्थ- वस्तुएं एकत्रित करना ‘परिग्रह’ कहलाता है। परिग्रह का त्यागी ही ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी है।³⁰

गीता में बाह्य परिग्रह को “मिथ्या वस्तु” बताकर उसके त्याग की चर्चा करते हुए पांचवें अध्याय के श्लोक 21-22 की व्याख्या करते हुए स्वामी चिन्मयानंद लिखते हैं- “सभी मिथ्या वस्तुओं का त्याग करने पर ही परमार्थ सत्य स्वरूप पूर्ण परमात्मा को हम प्राप्त कर सकते हैं।” हम भौतिक परिच्छिन्न वस्तुओं (परिग्रह) के पीछे न पड़े। क्योंकि वैशयिक उपभोग सदा ही दुःख के कारण होते हैं।³¹

“गतसंगस्य मुक्तस्य”³² ज्ञानी पुरुष वह है, जो परिच्छिन्न जगत् की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त है।” नित्यानित्य वस्तु के विवक को जानने वाला ही ज्ञानी होता है।

'निस्पृहः सर्वकामेभ्यो'³³ गीता हमें सभी प्रकार की कामनाओं में निस्पृहता रखने की प्रेरणा देती है।" किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छापूर्ति के प्रति हमारे मन में जो अत्यधिक लालसा या स्पृहा होती है, वही जीवन में हमारे कष्टों का कारण बनती है। "संकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओं को विशेष रूप से परित्याग करने को गीता में आवश्यक गुण बताया गया है"³⁴

"मद्वक्तः संगवर्जितः"³⁵ कृष्ण कहते हैं जो मेरा भक्त है वह संग (मोह) रहित होता है। उसी से ईश्वरप्राप्ति संभव है।"

अपरिग्रह की भावना द्योतक शब्द गीता में "अनभिष्वंग"³⁶ नाम से उल्लिखित है वहां कहा गया है कि -पुत्र, भार्या और गृहादिक में स्नेह भाव रखने वाला "अभिष्वंग" है। उस प्रीति का अभाव ही "अनभिष्वंग" कहलाता है।

18वें अध्याय के 49 वें श्लोक में सिद्धि प्राप्ति का मार्ग दर्शाते हुए कहा- 'सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला वही पुरुष, जो स्पृहारहित तथा जितात्मा बन, संन्यास

धारण करके परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है।' इससे आगे अपरिग्रह का महत्व प्रतिपादित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -"ममत्व भाव रहित होकर एवं परिग्रह को त्यागने वाला ही ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बन जाता है।"³⁷

रजो रागात्मक विद्धि, तृष्णा संग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम्।³⁸

हे कुंतीपुत्र रजोगुण की उत्पत्ति असीम आकाक्षाओं तथा तृष्णाओं से होती। इससे मनुष्य भौतिक भोग के लिए लालायित होता है। इस तरह की आसक्ति आत्मा को कर्मों से बंधने में निमित्त बनती है। बाह्य वस्तुओं के आकर्षण में 5 इन्द्रियों का योगदान मुख्य है। इनसे ही मनुष्य विषयों का सेवन करता है³⁹ परन्तु दैविक संपदा प्राप्त पुरुषों में 'अलोलुपता' एक विशेष लक्षण होता है।⁴⁰ कामनाओं की तृप्ति के लिए जीवन धारण किया है। यह चिंतन अज्ञानी और अविवेकी पुरुष का रहता है।⁴¹

"संग त्यक्त्वा फलं चैव सं त्यागः सात्त्विको मतः।"⁴²

"आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाने वाला त्याग सात्विक त्याग की श्रेणी में आता है।" इस तरह आसक्ति त्याग की परिभाषा गीता में अलग दृष्टिकोण से रखी गई है जिससे व्यक्ति सात्विकता की तरफ आकर्षित होता है।

वैदिक मान्यता में "दान" का अपना महत्व रहा है। उसी का अनुसरण गीता ने किया है। इसमें तीन प्रकार के दान का विवेचन है- (1) सात्विक दान, (2) राजसदान और (3) तमस दान। उपरोक्त में मात्र "सात्विक दान" ही उत्तम दान कहा गया है।⁴³ क्योंकि धन सम्पत्ति की तीन स्थितियां देखी गई हैं- दान, भोग और नाश।⁴⁴ "दान" की क्रिया से 'अपरिग्रह' भावों को विकसित होते देखा गया है तथा सामाजिक उन्नयन में भी दान की अहम भूमिका समाजशास्त्र या नीतिशास्त्र में प्राप्त होती है।

दान के संबंध में देवदत्त पटनायक लिखते हैं कि- "दान से न तो आभार बनता है और न ही अपेक्षा। यह मात्र मोक्ष का एक सूचक है। मोक्ष तब प्राप्त होता है जब हम यह अनुभव नहीं करते कि हमें अपनी सम्पत्ति से आसक्ति है तथा हम अपने आस-पास के लोगों पर अधिकार जमाना चाहते हैं क्योंकि हम अपनी पहचान को या तो अपनी सम्पत्ति अथवा अपनी शक्ति के द्वारा बनाये रखना चाहते हैं।" उन्होंने भी गीता-17-20 का उल्लेख करते हुये कहा- "ऐसा दान जो उपयुक्त व्यक्ति को उपयुक्त समय और उपयुक्त स्थान पर बिना इस अपेक्षा से दिया जाता है कि वह उसके बदले में कुछ देगा, वह सात्विक दान कहलाता है।" दान वही होता है जिसके बदले में हम किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करते हम दूसरों पर किसी प्रकार का आभार नहीं लादते। उसमें किसी प्रकार के ऋण या कर्मफल की चर्चा नहीं होनी चाहिए।⁴⁵

निष्कर्ष

गीता में वर्णित अनासक्ति के संदेश की उपयोगिता साबित करते हुये लिखा गया है "गीता में 'अपरिग्रह' शब्द भले ही एक बार (6-10) और परिग्रह शब्द भी केवल एक बार (18-53) आया हो, किन्तु अपरिग्रह को सविस्तार सार्थक व सशक्त समर्थन मिलता हो ऐसी विषयवस्तु गीता में भरी पडी है। गीता के अनुसार यह स्वयं व्यक्ति के हाथ में है कि हम 'अपरिग्रही' बनकर आत्मजयी बने। "गीता में उल्लेखित अनासक्ति के संदेश ने ही उसे विश्व में अमर बना दिया है।"⁴⁶

श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लिखित उपरोक्त विचार अपरिग्रही चिंतन धारा को पुष्ट करने वाले ही नजर आते हैं।

संदर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 6-10.
2. वही, 4-21.
3. वही, 4-23.
4. वही, 16-16.
5. वही, 14-7-17.
6. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामी प्रभुपाद, 14-12.
7. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 16-21.
8. वही, 2-62, 63.
9. वही, 2-52.
10. वही, 15-5.
11. निर्मला उपाध्याय (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 536.
12. वही, पृ. 536.
13. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 16-13.
14. अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 536.
15. मेरी गीता, देवदत्त पटनायक, पृ. 230.
16. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 2-47.
17. वही, 3-19.
18. वही, 3-20.
19. वही, 3-19.
20. वही, 3-19.
21. वही, 3-19.
22. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामी प्रभुपाद, 18-11.
23. श्रीमद्भगवद् गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 2-49.
24. आमंत्रण आरोग्य को आचार्य महाप्रज्ञ पृ. 95.
25. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, 4-20.

26. श्रीमद्भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानंद, 18-23.
27. वही, 4-14.
28. वही, 5-10.
29. वही, पृ. 822.
30. वही, 5-21, 22.
31. वही, 4-23.
32. वही, 6-18.
33. वही, 6-24.
34. वही, 11-55.
35. वही, 13-10.
36. वही, 18, 53.
37. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप- स्वामी प्रभुपाद, 14-7.
38. श्रीमद्भगवद्गीता-स्वामी चिन्मयानंद, 15-9.
39. वही, 16-2.
40. वही, 16-10.
41. वही, 18-6.
42. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप- स्वामी प्रभुपाद, 17-20, 21, 22.
43. धन मुनि वक्तृत्वकला के बीज भाग-6, पृ. 160.
44. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, 17-20.
45. मेरी गीता-देवदत्त पटनायक, पृ. 235, 237.
46. गोपाल भारद्वाज (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 59.

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-7



अंक-01



त्रैमासिक



जनवरी-मार्च, 2019

A Peer Reviewed Research Quarterly

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	प्राकृत भाषा के संरक्षण में संस्कृत साहित्य का योगदान	डॉ. सुदर्शन मिश्र	6-10
02.	कलश विवेचन	हरिशंकर पाण्डेय	11-16
03.	श्रेष्ठ ज्ञान और उसका प्रतिपादन: ज्ञानसार के संदर्भ में	मुनि लाभेश विजय	17-19
04.	कालिदास के काव्यों में प्रेम एवं सौन्दर्य	डॉ. समणी संगीत प्रज्ञा	20-24
06.	प्राचीन प्राकृत ग्रंथों में कंदमूल विमर्श	डॉ. दिलीप घाँग	25-31
07.	सामाजिक समरसता के नवनिर्माण में मूल्य शिक्षा की भूमिका	जयप्रकाश सिंह डॉ. विष्णु कुमार	32-35
08.	सुमित्रानन्दन पंत एवं महादेवी वर्मा के काव्य में वेदना एवं किरोह	डॉ. श्रवण राम	36-40
09.	Environmental Ethics and Sustainable Development	Dr. Rashmi Dhar	41-53
10.	Backward Children and Remedial Education	Ms. Ranjana Upadhyay	54-58

सामाजिक समरसता के नवनिर्माण में मूल्य शिक्षा की भूमिका

जयप्रकाश सिंह, डॉ. विष्णु कुमार

सारांश

जिस दौर में हम लोग जी रहे हैं उस दौर का सबसे बड़ा सच है कि मानवता, नैतिकता और सहिष्णुता का तार-तार होना दिख रहा है। निरन्तर मानवीय मूल्यों का हास होना, दैनिक समाचार पत्र, टी.वी., समाचार या अन्य सोशल मीडिया देखने और सुनने के बाद असल में समाज का एक ऐसा चेहरा हमारी आंखों के सामने मुखरित होता है जो हमें लम्बे समय तक झकझोरते रहेगी। यदि इस तरफ हमने ध्यान नहीं दिया तो आने वाली पीढ़ी हमें माफ नहीं करेगी। इस विषय पर अपनी सोच एवं बहुत सारे शोभ, पीड़ा, चिन्ता और सवाल को यून ही अनसुना छोड़ देना वस्तुतः संवेदनहीन समाज की पहचान होगी।

प्रस्तावना

भारत में विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोग निवास करते हैं। सभी लोग अपने सामाजिक विविधता, स्वभाव, क्षमता, वैचारिक स्तर, भाषा, खान-पान, देवी-देवता, पंथ-सम्प्रदाय, जाति व्यवस्था आदि विविधताओं में जी रहे हैं। प्रत्येक समाज अपने जाति भेदभाव के कारण सामाजिक समस्याएँ और विषमताओं को जन्म देती हैं जिससे आपसी संबंध बढ़ता है। प्राचीन भारत से ही सामाजिक व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था) कर्म पर आधारित थी। धीरे-धीरे यह कर्म व्यवस्था से वर्ण व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था से वंशानुगत होते चले गये। मध्य काल तक पारिवारिक व्यवस्था तक सीमित होकर जाति एवं वर्ण की पहचान बन गये। इस समय समाज की व्यवस्था का निर्धारण कर्म एवं क्षमता के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर हो गई थी। साथ-ही-साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के स्वाभिमान तथा सामाजिक सौन्दर्य पर प्रहार (फूट डालो और राज करो की नीति) से भारतीय अपनी वैभवपूर्ण समरस जीवन पद्धति से दूर उदारसैनता की ओर चले गये। वर्ण-व्यवस्था ने समाज में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, अन्याय का वृत्तावरण बना दिया जिससे सामाजिक विषमताएँ, वर्ण-जाति व्यवस्था ने देश में सामाजिक विषमता

पैदा कर दी। आजादी के इतने वर्षों बाद भी सामाजिक व्यवस्था में समता का जो स्थान होना चाहिए था वह नहीं हो पाया है। इसका मूल कारण कुछ राजनीतिक स्तर पर नेताओं द्वारा धर्म एवं जाति को राजनीतिक हथियार के रूप में उपयोग कर अपनी रोटियाँ संकना था।

वर्तमान समय में समाज के विभिन्न पहलुओं की यथास्थिति

पारिवारिक स्थिति- आधुनिक युग की जटिलताओं ने परिवार में अनेक परेशानियों को जन्म देकर द्रोषपूर्ण परिस्थितियों का सृजन किया है। जैसे-एकल परिवार, सम्बन्ध-विच्छेद, खण्डित परिवार की संकल्पना आदि। एकल हो या संयुक्त दोनों ही स्थितियों में पारिवारिक माहौल के आपसी सम्बन्धों में तू-तु-में-में और आपसी तनाव की स्थिति देखने को मिलती है। परिवार के सदस्यों में आपसी समभाव कम होता गया है। जबकि जहाँ परिवार के सभी सदस्यों में आपसी सम्बन्ध एवं अन्य आगन्तुक अतिथियों के साथ होने वाले व्यवहार को देखकर बच्चों में प्रेम, करुणा, सहयोग एवं कर्तव्य सीखने का मौका होना चाहिए था। इसी माहौल में समरसता की नींव पड़नी चाहिए थी।

सामाजिक स्थिति - प्रायः प्रत्येक समाज के रीति-रिवाज, संस्कृति के साथ-साथ ही पश्चिमीकरण की संस्कृति ने सामाजिक मूल्यों को काफी हद तक प्रभावित किया है जिससे समुदायों में जातियाँ, जनजातियाँ में संघर्ष एवं तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई है। जैसे-अनुसूचित जातियों को मन्दिरों में जाने से रोके जाने का, मन्दिरों में महिलाओं के प्रवेश पर प्रतिबंध, छोटी जातियों को सामाजिक पनघटों से रोक-टोक। जबकि यहाँ पर जरूरी है कि समाज में समता के भाव को फैलाया जाये। एक मानव की तरह ही वह भी दूसरे मानव के साथ व्यवहार करें। उसके साथ भी मनुष्यता का व्यवहार किये जाने की जरूरत है। सामाजिक व्यवहार, सहयोग, सहायता सम्बन्धी मूल्य विकसित किये जाने चाहिए जिससे संघर्ष की जगह प्रेम, भाईचारा बढ़े।

जातिगत स्थिति - इतिहास गवाह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी जातिगत समस्या सुलझने की

बजाय और उलझती जा रही है। जैसे- छुआछूत, डीन-भावना आदि। उच्च जाति के लोग अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों को हेय दृष्टि से देखना, छुआ हुआ नहीं लेना, शोषणात्मक प्रवृत्ति का व्यवहार करते हैं। जबकि ऐसा व्यावहारिक नहीं होना चाहिए। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दुओं का आचरण हेरानी भरा है। जब तक कोई व्यक्ति हिन्दू समाज का अंग है, उसके साथ छुआछूत का बर्बरतापूर्ण व्यवहार करता है। यदि वह हिन्दू धर्म छोड़कर मुस्लिम या ईसाई हो जाता है तो समता का व्यवहार किया जाता है। जबकि हम सब भारतीय परस्पर भाई-बहन हैं ऐसी भावना होनी चाहिए।"

धार्मिक स्थिति - समाज में विभिन्न धर्मों के लोग अपने-अपने धर्म के आदर्श मूल्यों से जुड़े होते हैं। अपने धर्म गुरुओं को अच्छा मानते हैं। अन्य धर्म गुरुओं को नगण्य समझते हैं। इतना ही नहीं एक-दूसरे धर्म के प्रति हीनता की भावना व्यक्त करने से द्वेष, द्वन्द्व एवं दंगे का रूप भी ले सकती हैं। जैसे-आज राम मन्दिर के नाम पर हिन्दू धर्म की कई धर्म गुरुओं द्वारा अपने-अपने विचारों से राम मन्दिर के नाम पर धार्मिक रोटियाँ संकते हुए आये दिन देख सकते हैं। जबकि यहाँ धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का विकास करना चाहिए था जैसे- सभी धर्मों का आदर करना, धार्मिक कट्टरता को हतोत्साहित करना, वैज्ञानिक मूल्यों को अपनाना आदि।

आर्थिक स्थिति - मानव अपनी जीविका के पालन के लिए अर्थ का अर्जन करता है। समस्या तो तब होती है जब अर्जन आवश्यकता से अधिक करने की प्रवृत्ति बढ़े। व्यक्ति लाख कमाने के लिए किसी भी सीमा तक जाने को तैयार हो जाता है। इस तरह उच्च एवं निम्न आर्थिक वर्ग का निर्माण होता है। अमीर गरीब के बीच में खाई बढ़ती जाती है। इससे आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। जबकि आर्थिक मूल्यों का विकास किया जा सकता है जैसे- गलत तरीके से पैसा नहीं कमाना, कर्मचारियों को कार्य का उचित मूल्य देना, कर्मचारी के ध्यान में भेदभाव नहीं रखना, सरकार द्वारा दिये गये आरक्षण का प्रावधान लागू किया जाना जिससे समाज में समता एवं भाईचारे का विकास हो सके।

राजनीतिक स्थिति - सत्ता पक्ष हो या विपक्ष के नेता, केवल वोट की राजनीति कर रहे हैं। एक-दूसरे दल को बुराईयों के साथ-साथ दोषारोपण करने में लगे हैं। आरक्षण जैसे मुद्दे को ले लीजिए, कोई भी पार्टी सीधे तौर पर उस वर्ग की भलाई नहीं सोचती है बल्कि उस ज्वलन्त मुद्दे पर अपनी राजनीतिक फायदा कैसे हो सकता है ताक में लगे रहते हैं। जैसे- आज वोट बैंक बनाने के लिए हर पार्टी किसानों, दलितों का हमदर्द अपने आपको बताने में तुली हुई है। जबकि राजनीतिक माहौल में मूल्य आधारित बातों को विकसित किया जाना चाहिए। जैसे- नेता अपनी कथनी और करनी एक समान करें, केवल झूठा वादा न करें, सभी जाति, वर्ग एवं धर्म के व्यक्तियों से समभाव रखें आदि।

उपर्युक्त विवरण से वर्तमान समय में समाज के विभिन्न पहलुओं की यथास्थिति स्पष्ट होती है और समाज का जो चेहरा हमारी आंखों के सामने है वह है 'समरसताविहीन समाज'।

सामाजिक समरसता का अर्थ

समरसता का अर्थ मात्र समानता नहीं सभी को अपना मानकर किया जाने वाला व्यवहार है। उसी प्रकार संक्षेप में सामाजिक समरसता का अर्थ सबका समान और सबसे आत्मोद्यतापूर्ण व्यवहार अर्थात् व्यापक अर्थों में जातिगत भेद-भाव एवं अस्पष्टता का उन्मूलन कर परस्पर प्रेम एवं सौहार्द समाज के सभी वर्गों एवं वर्ण के मध्य एकता स्थापित करने से है। इसमें आध्यात्मिकता भी है और नैतिकता भी है। समरसतापूर्ण व्यवहार से स्वतंत्र, समता और बन्धुत्व (भ्रातृत्व) के माध्यम से सामाजिक समरसता तक पहुंच सकते हैं।

वर्तमान समय में सामाजिक समरसता की आवश्यकता

इस समय समाज में इसकी नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है-

1. स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए।
2. आपसी सम्बन्धों में प्रेम भाई-चारा बढ़ाने हेतु।
3. सामाजिक एकता के निर्माण के लिए।
4. शाश्वत मूल्यों की पुनर्स्थापना हेतु।

5. धार्मिक सहिष्णुता हेतु।
6. जातिगत द्वन्द्व, छुआछूत कम करने हेतु।
7. संयुक्त संस्कृति की विरासत को विकसित करने हेतु।
8. सफल राष्ट्र के निर्माण हेतु।

मूल्य शिक्षा की भूमिका

शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन की मूलभूत आवश्यकता एवं साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था- 'शिक्षा परिवर्तन का साधन है जो कार्य साधारणतः समाज में परिवार, धर्म, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है वहीं आज शिक्षा संस्थाओं द्वारा किया जाता है।' स्वतंत्र भारत में प्रत्येक सरकार ने उत्तरोत्तर बदलती परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा नीति और उससे जुड़ी हुई अपनी सोच को भी लचीला बनाया है। 'मूल्य शिक्षा' का अभिप्राय उन सभी प्रक्रियाओं से है जो किसी व्यक्ति में ऐसे सकारात्मक गुणों, अभिरुचियों तथा विशेषताओं का विकास करते हैं जिससे समाज में सही ढंग से स्थापित होने की क्षमता विकसित हो जाती है। विश्वविद्यालय आयोग की प्रमुख चर्चे दुःखी और दरिद्र व्यक्तियों से सहानुभूति, अन्याय से घृणा, छात्रों में असंतोष, धार्मिक महापुरुषों की जीवनी आदि से सामाजिक मूल्यों के विकास को बल दिया है। माध्यमिक शिक्षा आयोग के शब्दों में कक्षा कक्षा शिक्षा के आधार पर 'धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा' दी जानी चाहिए। कोठारी आयोग के अनुसार केंद्रीय राज्य सरकारों को वे सब कदम उठाने चाहिए कि जिससे शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक, सामाजिक मूल्य विकसित हो सकें। सभी धर्म के उत्तम मूल्यों को लेकर और कहानी माध्यम आदि से नैतिक शिक्षा देनी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने भी महत्वपूर्ण सिफारिशों में 'मूल्य शिक्षा' ही थी जिसके द्वारा मानवीय मूल्यों एवं सामाजिक मूल्य विकसित किये जायें। 1970 के दशक में जहां महापुरुषों की जीवन चरित्रों, नैतिक कहानियों, देशभक्ति, वीरगाथाओं के साहित्य से शिक्षा प्रदान की जाती थी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1992) ने प्रजातांत्रिक एवं मानवतावादी धर्मनिरपेक्ष, वैज्ञानिक एवं समाजवादी मूल्यों को विद्यालय के लिए स्वीकृत की गई थी। आज के सूचना एवं संचार क्रांति के युग में जहां सच्ची शिक्षा की

जगह हम लोग सूचना को मात्र दूढ़ने की शिक्षा दे रहे हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही लिखा है "हम बच्चों के मस्तिष्क में सूचनाएं उड़ेल रहे हैं और जीवन मूल्यों, अनुभवों तथा आध्यात्मिकता की अर्हलना कर रहे हैं।

उपर्युक्त सामाजिक समरसता के विकास के लिए निम्न बिन्दुओं पर विशेष रूप से ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है-

1. पूरे देश में एक शिक्षा प्रणाली कार्यक्रम जिसमें 'नैतिकता एवं मूल्य शिक्षा' के पाठ्यक्रम समाहित हों।
2. बदलते परिवेश में 'वैज्ञानिक मूल्यों' (नये मूल्य) की स्थापना और सामाजिक संस्कृति और विभिन्नता में एकता के सूत्र विकसित करने वाले मूल्यों को विशेष रूप से ध्यान दिया जाये।
3. प्रशिक्षित कौशलपूर्ण शिक्षकों की पूर्ति के साथ ही शिक्षक का आदर्श मॉडल भी स्कूल एवं समाज में भी दृष्टिगत हो।
4. मूल्य शिक्षा के केवल सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक पक्ष को भी शिक्षा में अनिवार्य रूप से शामिल किया जाये।
5. भारत जैसे देश के लिए विभिन्नता वाले भौगोलिक, सांस्कृतिक, धर्म, भाषा जाति के लोगों के लिए सर्वधर्म सभा वाली प्रार्थना हो।
6. प्रत्येक विषय में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व के तत्त्वों को विशेष उदाहरण से उद्घृत किया जाये।
7. सरकार की तरफ से इस ज्वलन्त विषय पर सेमिनार, कान्फ्रेंस, कार्यशाला का आयोजन किया जाना चाहिए।
8. सामाजिक समरसता के विकास के लिए इस क्षेत्र में नये अनुसंधान पर बल देना चाहिए।
9. सभी कार्यस्थलों पर नैतिकता एवं मूल्यपरकता के भाव विकसित किये जाने चाहिए।

उपर्युक्त बिन्दुओं को स्थापित कर काफी हद तक सामाजिक समरसता का विकास किया जा सकता है। वी. एल. शर्मा ने ठीक ही कहा है कि "सकारात्मक सोच एवं दृढ़ इच्छाशक्ति के माध्यम से व्यक्ति समस्या का समाधान निकाल सकता है।"

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

1. ओदित्य, हिमांशु (2010) "शिक्षा और उदीयमान भारतीय समाज", आस्था प्रकाशन, जयपुर, पृ. 176-183
2. पण्ड्या, देवेन्द्र, "सर्वकालीन सदेश के प्रणेता : डॉ. अम्बेडकर", मासिक शिविरा पत्रिका, वर्ष 26, अंक 10, अप्रैल 2016, पृ. 10-11
3. मजेजी, वजरंग प्रसाद, "शिक्षक : सामाजिक समरसता के संवाहक", मासिक शिविरा पत्रिका, वर्ष 26, अंक 10, अप्रैल 2016, पृ. 11-12
4. वादव, बरिन्द्र सिंह (2014), "भारतीय शिक्षा का बदलता परिदृश्य : चुनौतियाँ एवं समाधान की दिशाएँ", आमेगा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 392
5. राजोरा, सुरेश चन्द्र (2010), "समकालीन भारत की सामाजिक समस्याएँ", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 292
6. शर्मा, के.एल. (2006), "भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन", रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृ. 308
7. शर्मा, धर्मराज, "अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद : लोकतांत्रिक मूल्यों एवं मानव सभ्यता के लिए बड़ी चुनौती", रिसर्च रिटर्न्फोर्समेन्ट, खण्ड 6, अंक 1, मई 2018-अक्टूबर 2018, पृ. 69-73
8. सिंह, डी.के., पालीवाल, सौरभ एवं मिश्र, रोहित (2010), "मानव समाज संगठन एवं विघटन के मूल तत्त्व", न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ, पृ. 202

शोधार्थी

शिक्षा विभाग

जैन विश्व भारती संस्थान

लाडनू (राजस्थान)

सहायक आचार्य

शिक्षा विभाग

जैन विश्व भारती संस्थान

लाडनू (राजस्थान)

Nibandha Mala Journal

Certificate of Publication

is awarded to

प्रो आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह की अवधारणा

Published in *Nibandha Mala* Journal Vol-11, Issue-12 December- 2019 ISSN: 2277-2359

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed



S.N. Sharma

Editor-in-Chief

editor@hindijournals.org



UGC
University Grants Commission



बौद्ध दर्शन में अपरिग्रह की अवधारणा

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी¹, मुनि पुलकित कुमार²

¹निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं।

²शोध छात्र, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं।

सार संक्षेप

भारतीय परम्परा में अपरिग्रह व्रत की अवधारणा श्रमण परम्परा की देन है। श्रमण संस्कृति की दो धाराएं रही हैं जो कालान्तर में अलग-अलग धर्म-दर्शन के रूप में विकसित व प्रसारित होती चली गईं-(1) जैन दर्शन (2) बौद्ध दर्शन। दोनों परम्पराओं में साधनागत कुछ समानता रहते हुए भी सिद्धान्तगत कुछ भिन्नताएं नजर आती हैं। फिर भी अपरिग्रह की विचार धारा पर दोनों कुछ अंशों में एक मत होते दिखाई देते हैं।

महात्मा बुद्ध ने समय-समय पर शिष्यों को शिक्षा देते हुए तृष्णा के त्याग और दान के महत्व को उजागर किया है जो अनासक्ति और अपरिग्रह के बिना संभव नहीं होता।

जैन परम्परा में जिसे परिग्रह कहा गया उसी को बौद्ध परम्परा में तृष्णा कहा है। तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह का मूल है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक वृत्ति है तथापि उसका प्रकटन बाह्य वस्तुओं से है बन्धन में निमित्त कारक है।

भगवान बुद्ध का मानना था कि-"परिग्रह कायिक कर्म न होकर मूलतः मानसिक भाव तृष्णा पर आधारित है।" अतः दीघनिकाय में बुद्ध ने लोभ को सभी बुराईयों की जड़ कहा है।" इस प्रकार बौद्ध दर्शन का स्पष्ट अभिमत रहा कि "परिग्रह जहां तृष्णा की तड़पन है वहीं अपरिग्रह संतोष वृत्ति का सुख है।

- अपरिग्रह
- अकिंचन
- तृष्णा
- अनादान जाता
- संतोषवृत्ति
- विततृष्णा
- अल्पेच्छा
- बोधिचित्तोत्पाद
- दुःख निरोध
- अनासक्ति
- कर्म क्लेषक्षय
- दान पारमिता

धम्मपद में अपरिग्रह

'धम्मपद' बौद्ध साहित्य का सबसे ज्यादा लोकप्रिय ग्रन्थ है। बौद्ध धर्म में इसका उसी प्रकार महत्व एवं प्रचार है जैसे हिन्दू संसार में 'गीता' का। धम्मपद एक ऐसा बौद्ध ग्रन्थ है जिसकी प्रत्येक गाथा में बुद्ध के धर्म का सार भरा हुआ है। इसमें कुल 26 वर्गों के अंतर्गत 423 गाथाएं हैं।

बुद्ध का वचन है- "नत्थि रागसमो अग्नि, नत्थि दोससमो कलि"।¹ "दुनिया में राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान क्लेश नहीं है। राग और द्वेष ही परिग्रह के मूल हैं। इन्हीं से परिग्रह के प्रति मोह का भाव पनपता है।

धम्मपद के चौबीसवें 'तण्हावग्ग' में 'अनादान जाता' अर्थात् 'अपरिग्रही' को महाप्राज्ञ की उपमा देते हुए लिखा है-

वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जंजा पुब्बापरानिच,
स वे अन्तिम सरीरो महापन्नोत्ति वुच्चति।।²

अर्थात्- "जो तृष्णारहित, परिग्रह रहित, निरुक्ति और पद (चार प्रतिसम्पदा का जानकार है, वही अन्तिम शरीर वाला तथा महाप्राज्ञ कहलाता है।" जिसने तेज प्रवाह वाली तृष्णा रूपी नदी को पूरा सुखा दिया है वह भिक्षु संसार को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस प्रकार सर्प पुरानी

केंचुली को छोड़ देता है।³ इससे आगे बुद्ध ने कहा- "तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी, बंधे हुए खरगोश की भांति चक्कर काटते रहते हैं, इसी तरह संयोगों (मोहराग) में फंसे मनुष्य बार-बार चिरकाल तक दुःख को प्राप्त होते हैं।"⁴ इसी के 'ब्राह्मणवग्ग' की गाथाओं में उसे ही सच्चा ब्राम्हण कहा गया है जो अकिंचन और अनादान है, किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखता "अकिंचनं अनादानं तमहं बुमि ब्राह्मणं"⁵ पाली-हिन्दी कोष में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'अकिंचन' को भिक्षु का विशेषण मानते हुए अर्थ किया है- 'जिसके पास कुछ न हो, परिग्रह से रहित हो।'⁶

'धम्मपद' के तृष्णा वर्ग में कहा गया- "वित्तृष्णा"⁷ मुक्ति-निर्वाण का उत्तम साधन है। जो व्यक्ति तृष्णा को वश में कर लेता है, उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं, जैसे 'कमल पत्र पर रहा हुआ जल बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।' इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है।

बुद्ध ने इस संदर्भ में सही कहा है कि -"बुद्धिमान जानी लोग उस बंधन को बंधन नहीं मानते, जो लोहे आदि धातु का हो, काष्ठ अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढ़तर- गाढतम बंधन तो धन, दौलत, पुत्र, स्त्री आदि में बसी हुई व्यक्ति की आसक्ति ही है।" "ऐसी विषैली आसक्ति अथवा तृष्णा जिसे घेर लेती है, उसके दुःख, शोक वैसे ही बढ़ते जाते हैं, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।"⁸

बुद्ध कहते हैं कि- "स्वर्णमुद्रा की वर्षा हो जाए, लेकिन उससे तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।"⁹ तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बंधन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। धम्मपद 347 के अनुसार "जो राग 'तृष्णा' में आसक्त है वे मनुष्य मकड़ी की तरह अपने बनाए जाल में सबको फंसाते हैं।" बुद्ध का मानना था कि जैसे खेतों का दोष-तृण है, वैसे ही मनुष्य जीवन का दोष 'तृष्णा' है।¹⁰

मज्झिमनिकाय में अपरिग्रह

बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख का मूल है। "तन्हाय जायती सोको, तन्हाय जायती भयं।" यह शोक और भय को उत्पन्न करती है।¹¹ जब तक तृष्णा शांत नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति संभव नहीं है। "मज्झिम निकाय" में भगवान बुद्ध की स्पष्ट देशना है कि "तृष्णा" जगत के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। उसी के कारण राजा-राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ाई करता है। माता पुत्र से, पुत्र माता से तथा परिवारजन आपस में लड़ते हैं।¹² तृष्णा समस्त पाप कर्मों की जननी है। चोर उसी के लिए चोरी करता है, धनी इसी के लिए

गरीबों का शोषण करता है। यह संसार तृष्णा मूलक है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। अतः अनासक्ति प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। "तृष्णा संक्षय विमुक्ति"¹³ अर्थात्-"तृष्णा के विनाश से होने वाली मुक्ति को धारण करो।"

तृष्णा बंधन कारक है, इससे मोह बढ़ता है। अतः 'भिक्षुओं तृष्णा का विनाश करो। अप्रमादी होकर, सुखपूर्वक संयमित जीवन व्यतीत करो।' बौद्ध मान्यतानुसार तृष्णा एक ऐसी खाई है जो कभी भी पाटी नहीं जा सकती। हमारे जन्म का कारण तृष्णा है जो हमें सांसारिक विषयों की ओर खींचती है। हमारी तृष्णा ही हमें विषय लोभ बनाती है। तृष्णा ही पुनर्जन्म का कारण है।¹⁴

सुतनिपात में अपरिग्रह

सुतनिपात में बुद्ध ने कहा है-"आसक्ति ही बंधन है।"¹⁵ सच्चे श्रावक की पहचान बताते हुए तृष्णाक्षय पर बल दिया है-"दिव्य काम भोगों में जिसे रति नहीं होती और तृष्णा के क्षय होने पर जो सुखी होता है, वही बुद्ध का सच्चा श्रावक कहलाता है। आसक्ति के लिए बौद्ध ग्रन्थों में 'अज्झोसान' और 'अभिसंग' शब्दों का प्रयोग हुआ है। "आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं।" आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है।¹⁶

"बुद्ध के आचार दर्शन का सारा बल तृष्णा के प्रहाण पर है। तृष्णा को उखाड़ फेंकने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता।" तृष्णा के सभी निवेशनों (आश्रय स्थानों) को उच्छिन्न करने के लिए बुद्ध ने अनात्म का उपदेश दिया। वस्तुतः यह अनासक्ति की उच्चतम अवस्था है। इस अनात्म का उपदेश उन्होंने तृष्णा के प्रहाण एवं ममत्व के विसर्जन के लिए दिया था।"

बुद्ध के अनुसार-"तण्हाय विप्पहातेता निव्वानं"¹⁷ तृष्णा का खत्म होना ही निर्वाण प्राप्ति है। अस्तित्व की चाह ही तृष्णा है। पाली-हिन्दी कोश में 'अतितण्ह' का अर्थ अत्यन्त लोभी किया है। वही अनासक्ति के संदर्भ में 'असत्त', 'असंग' एवं 'अलग्गन' शब्दों का उल्लेख किया है।¹⁸ मुक्ति तो वीतरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।" अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है। क्योंकि तृष्णा की अग्नि को परिग्रह परिमाण के त्याग जल के द्वारा ही शांत किया जा सकता है।

वस्तुतः आध्यात्मिक विकास या तृष्णा की समाप्ति के लिए हृदय में "संतोष वृत्ति" का उदय अत्यन्त आवश्यक है। इसे सर्वोत्कृष्ट धन बताते हुए कहा गया-

"संतुट्ठी परमं धनं।"¹⁹ सन्तोषवृत्ति सर्वोत्कृष्ट धन है।

असंतोष को दुःख का कारण बताते हुए कहा- "विषय वासना में लिप्त होने से बढ़कर कोई पाप नहीं है, असंतोष से बढ़कर कोई दुःख नहीं, लोभ से बढ़कर कोई अनर्थ नहीं है और संतोष में शाश्वत सुख है।" बुद्ध ने आगे कहा- "भिक्षुओ! संसार में दो प्रकार के व्यक्ति अति दुर्लभ हैं - एक वह जो स्वयं तृष्णा रहित तृप्त है, संतुष्ट है और दूसरा वह जो दूसरों को संतुष्ट अर्थात् तृप्त करता है।"²⁰ क्योंकि "अन्तो जटा, बही जटा, जटाय जटिता पजा" अर्थात्- "भीतर तृष्णा रूपी जटा, बाहर भी पदार्थ रूपी जटा है। इस तरह जगत की प्रजा इस जटा में चारों तरफ से जकड़ी हुई है।"²¹

अंगुत्तरनिकाय में अपरिग्रह

बुद्ध ने अंगुत्तर निकाय में प्रश्न का समाधान देते हुए अनासक्ति पर विशेष बल दिया है-

"समिद्धि की सारा? विमुत्तिसारा।"²²

अर्थात्-समृद्धि का सार क्या है? उत्तर- "विमुक्ति (अनासक्ति) ही भौतिक समृद्धि का सार है।" मनुष्य सुख-शांतिपूर्वक सोना-नींद लेना चाहता है पर उसके द्वारा संग्रहित सोना अर्थात् स्वर्ण उसे सोने नहीं देता। क्योंकि उसकी आसक्ति और भय नींद में विघ्न डालते हैं। दूसरे प्रकार का व्यक्ति जो अनासक्त और तृष्णा मुक्त है उसके लिए स्वर्णधातु मात्र होकर मिट्टी के ढेले से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यहां अंतर केवल विचार चेतना का है।"

इसी विचार चेतना को "अंगुत्तर निकाय" में बहुत ही सरल तरीके से पेश किया गया है- "दो प्रकार के मनुष्य ही अपरिग्रह सुख से भावित हो सकते हैं, वे हैं- एक तो वह जो पूर्ण तृप्त 'तृष्णा' रहित है जिसे परिग्रह की भूख नहीं सताती और दूसरा वह है जो प्रतिफल की कामना के, आकांक्षा (इच्छा) के दीन-दुखियों-जरूरत मंद को एवं जन साधारण को तृप्त एवं संतुष्ट करता है।" अंगुत्तरनिकाय में उन्होंने भिक्षुओं को शिक्षा दी है-

"द्वेमा भिक्खवे, आसा दुप्पजहा..... ताभासा च जीविताशा च।"²³

अर्थात्-"भिक्षुओ! दो प्रकार की आशाएं (इच्छाएं) बड़ी कठिनता से छूटती हैं - एक लाभ और दूसरी जीवन की आशा।" उनका मानना था कि धन्य है वह जो आशा नहीं रखता, क्योंकि वह कभी निराश नहीं होगा। जितनी ज्यादा आशा होगी, उतना ही व्यक्ति के भीतर पदार्थ के प्रति 'ममत्व भाव' जागेगा। वह उसमें ही उलझकर रह जाएगा।

यह 'अनिच्छा' का भाव ही अपरिग्रहत्व को मजबूत करता है। "इच्छा से दुःख आता है, इच्छा से भय आता है। जो इच्छाओं से मुक्त है, वह न दुःख को जानता है और ना ही भय को" गौतम बुद्ध का यह सुभाषित भी इसी ओर इंगित करता है।

संयुतनिकाय में अपरिग्रह

"जो तृष्णा को बढ़ाते हैं, वे उपाधि को बढ़ाते हैं और उपाधि दुःख को बढ़ाती है।" बौद्ध दर्शन में अनेक प्रकार की तृष्णाओं का वर्णन है। जिसमें (1) भव तृष्णा (2) विभव तृष्णा और (3) काम तृष्णा²⁴ मुख्य रूप में है।

"भवतृष्णा अर्थात् अस्तित्व या अधिकारयुक्त बने रहने की तृष्णा है, यह राग स्थानीय है। विभव तृष्णा स्वयं के अस्तित्व को खत्म करने या नष्ट हो जाने की द्वेष स्थानीय तृष्णा है और तीसरी कामतृष्णा भोगों को प्राप्त करने की तृष्णा है। छह-छह विषयों की क्रमशः भव, विभव और काम तृष्णा के आधार पर बौद्ध साहित्य में तृष्णा के 18 भेद भी माने गए हैं।

सारीपुत्र का ध्यानपूर्वक अल्पायु में निधन होने पर भगवान बुद्ध ने कहा- "सारीपुत्र की तरह प्रजा से, शील और चित्त की शांति से जो भिक्षु पार चला जाता है वही परम पद (निर्वाण) को प्राप्त करता है। सारीपुत्र "अल्पेच्छा" वाला था। यहाँ उल्लिखित 'अल्पेच्छा' असंग्रह और अनासक्ति की भावना को व्यक्त करता है। गोधिक कुलपुत्र के संदर्भ में कहा- "तृष्णा को जड़ से उखाड़कर धृति सम्पन्न गोधिक ने परिनिर्वाण पा लिया"²⁵ इस प्रकार बौद्ध दर्शन में वितृष्णता, भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति को मुक्ति (निर्वाण) प्राप्ति का प्रथम साधन माना है।

बौद्ध दर्शन में बोधि प्राप्ति और अनासक्ति के लिए 'मनोनिग्रह' पर भी बल दिया है। बुद्ध ने कहा-"यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है। यह यथेच्छ विचरण करने वाला स्वच्छंद है। इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त और इन्द्रियां सुखकारक होते हैं।"

मज्झिम निकाय में इन्द्रिय संयम, आत्मदमन के लिए कहा है- "पंडितजन ही आत्मा का दमन किया करते हैं।" बौद्ध दर्शन में इच्छा गुण के अभाव को ही अपरिग्रह अवस्था माना है। यही निर्वाण प्राप्ति का उत्तम साधन है। "निरोधो निव्वानं"-दुःख का निरोध करना ही निर्वाण है। दुःख का निरोध तृष्णा का नाश होने पर ही संभव है।

बोधिचित्तोत्पाद और अपरिग्रह

बौद्ध साहित्य में 'बोधिचित्तोत्पाद' की भावना में अपरिग्रह अन्तर्निहित नजर आता है। "बुद्धो भवेयं जगतो हिताय" अर्थात्-सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करूंगा, ऐसी अभिलाषा बोधिचित्त कहलाती है। डॉ श्वेता जैन के अनुसार- "बोधि प्राप्ति की दिशा में अभिमुख होकर तद्गत चर्यापथ में गति करना 'बोधिचित्तोत्पाद' कहलाता है।" बौद्ध दर्शन की इस अवधारणा को महायान में प्रवेश का द्वार कहा है।²⁶ 'बोधिचित्तोत्पाद' तीन शब्दों के संयोग से बना है। जैसे बोधि-सम्यग्ज्ञान, चित्त-मन अथवा विचार और उत्पाद अर्थात् उत्पत्ति। इस प्रकार बोधिचित्तोत्पाद का अभिप्राय है-"चित्तोत्पादः परार्थाय सम्यक्सम्बोधिकामता।"²⁷

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि "सांसारिक प्राणियों को दुःख से दुःखी देखकर उनके दुःखों को दूर करने वाली भाव प्रवणता बोधिचित्तोत्पाद है।" यह महाकरुणा से युक्त है। "बोधिचित्त सभी प्राणियों के आनंद का स्रोत है। इसमें दुःख शान्त होकर सुखों से तृप्ति मिलती है।"²⁸

बौद्ध दर्शन में दान

'अपरिग्रह' तत्व के महत्वपूर्ण अंग "दान" के विषय में भी बौद्ध दर्शन में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। व्यक्ति के भीतर दान की भावना तभी साकार रूप ले सकती है जब उसकी अंतर आत्मा में 'अपरिग्रही वृत्ति' का जन्म होता है। अधिकार मुक्त अवस्था आती है। अपने हिस्से की कुछ वस्तु को देने की भावना जागती है। इसे ही बुद्ध "दान पारमिता" कहते हैं।

'बोधिचित्तोत्पाद' के लिए अनेक पारमिताओं का अभ्यास किया जाता है। इन पारमिताओं के अभ्यास से आध्यात्मिक विकास होता है। उनमें एक है 'दान पारमिता'। 'दान पारमिता' और 'अपरिग्रह' का आंतरिक एक्य संबंध के संदर्भ में लिखा गया है- "सब जीवों के लिए दान तथा दान फल का भी त्याग दान पारमिता है। दान के अनन्तर यदि फल की आकांक्षा बनी रहती है, तो वह कर्म बन्धन कारक होता है। अपूर्ण रहता है। अतः फल के प्रति पूर्णतः विरत होने से ही वस्तु के प्रति ममत्व का त्याग संभव बनता है। सांसारिक दुःख का मूल सर्व परिग्रह है। परिणामतः 'अपरिग्रह' के द्वारा भव दुःख से विमुक्ति मिलती है। दान के अभ्यास करने वाले को किसी भी वस्तु का ग्रहण त्यागचितता से करना चाहिए।" 'दान पारमिता' में पदार्थ दान, धर्म दान, अभय दान आदि अनेक प्रकार के दान सम्मिलित हैं। दान देने से परित्याग की भावना बढ़ती है और त्याग शक्ति का विकास होता है। इसलिए कहा है-"वीतरागेषु, वीतदोसेषु, वीतमोहेषु, विगतिच्छेषु दिन्नं होति महष्फलं।"²⁹ अर्थात् 'राग, द्वेष, मोह और इच्छा रहित होकर दिया गया 'दान' महाफलदायी होता है।'

सद्गुणों में प्रथम "दान" की प्रवृत्ति का संवर्धन करने से लोभ और तृष्णा का नाश होता है तथा अपरिग्रही वृत्ति का विकास होता है। बुद्ध का अभिमत था कि "दिन्नं होती सुनीहितं"³⁰ "दिया हुआ चिरकाल तक सुरक्षित रहता है।" "ददं मितानि गन्थति"³¹ अर्थात्-"दान से मित्रता बढ़ती है।" "सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोष रहित दान दो।" "मात्सर्य और प्रमाद पूर्वक दान नहीं देना चाहिए।" दान का महत्व प्रतिपादित करते हुए बुद्ध उपदेश की भाषा में कहते-

"अप्पस्मा दक्खिणादिन्ना, सहस्सेन समंमता।"³²

अर्थात्-थोड़े में से जो दान दिया जाता है, वह हजारों लाखों के दान की बराबरी करता है।" उन्होंने आगे कहा-"भिक्षुओ! दान के दो प्रकार हैं- भौतिकदान (आमिसदान) और धर्मदान (धम्मदानं च) इनमें से धर्मदान श्रेष्ठ है। सब दानों से बढ़कर है। धर्मदान का एक रूप है- अभयदान।" जीवन देना- अभयदान है। इस अभयदान को सर्वोत्तम दान बताया गया है।³³ यह अहिंसा और अपरिग्रह की भावना से प्रेरित होता है।

भगवान बुद्ध की वाणी का संकलित स्वरूप बौद्ध दर्शन में 'पिटक' कहलाता है।" जैन आगमों की मूल भाषा "प्राकृत" या "अर्धमागधी" है। जबकि बौद्ध पिटकों की रचना "पाली" भाषा में हुई है।³⁴ भगवान महावीर ने "अपरिग्रह" के संबंध में जिस तरह श्रमण और श्रावक दोनों को सम्मिलित किया है। वैसा व्यवस्थित वर्णन बौद्ध साहित्य में देखने में नहीं आता। फिर भी तथागत बुद्ध द्वारा उपदेशित चार आर्य सत्यों में तीसरा "दुःख निरोध" (निवारण) के अन्तर्गत 'अपरिग्रह' भावना का विस्तार से वर्णन मिलता है।

गौतम बुद्ध के उपदेशों में 'परिग्रह' को 'मिथ्याचार' (मिथ्यादृष्टि) शब्द से भी संबोधित किया है। 'बुद्ध इच्छाओं (तण्हा,पाली में) को सभी दुःखों का कारण बताते हैं। इसलिए वे लोगों को सलाह देते हैं कि जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर इच्छाओं का त्याग करो क्योंकि जीवन में कुछ भी निश्चित और स्थाई नहीं है, यहां तक कि पहचान भी।"³⁵ बुद्ध द्वारा उपदेशित 'द्वादश निदानों में पाचवां निदान "तृष्णा का निदान"³⁶ रहा है। जिसकी तुलना जैन दर्शन के "अपरिग्रह" सिद्धान्त के साथ की जा सकती है। उनका मानना था कि -"तृष्णा से ही आसक्ति (मूच्छा) होती है। आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से असुरक्षा भाव, पदार्थ की खींचातान एवं संचय वृत्ति बढ़ती है।" पदार्थासक्ति में दण्ड प्रयोग, शस्त्रप्रयोग, हिंसा, कलह-विवाद, चोरी, असत्य भाषण आदि अनेक दोष व विकृतियां उत्पन्न होती हैं।"

दस शील और अपरिग्रह

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए 'दस शील' का उल्लेख किया है, उनमें से अंतिम 4 अपरिग्रह के ही विस्तार कहे जा सकते हैं। जैन साधना पद्धति में जैसे गृहस्थ के लिए 'बारह व्रतों' का विधान है वैसे ही बौद्ध परम्परा में उपासकों के लिए 'अष्टांग शील' की धारणा मिलती है। जैन परम्परा में "पांच महाव्रतों" और बौद्ध परम्परा में "दस भिक्षु शील" में न केवल शाब्दिक समानता देखी गई वरन् दोनों की भावना भी लगभग समान है। जैसे-

- (1) प्राणातिपात विरमण,
- (2) अदत्तादान विरमण,
- (3) अब्रह्मचर्य विरमण,
- (4) मृषावाद विरमण,
- (5) सुरामेय मद्य विरमण,
- (6) रात्रि एवं विकाल भोजन विरमण,
- (7) नृत्यगीत वादित्र विरमण
- (8) माल्यधारण गंध विलेपन विरमण,
- (9) उच्च शय्या विरमण,
- (10) जातरूप रजत ग्रहण विरमण।³⁷

"बौद्ध दर्शन में उपरोक्त दस शील जिन्हे श्रामणेर शील भी कहते हैं, के अंतर्गत मादक द्रव्यों के त्याग को पंचम व्रत के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है कि मद्यपान से मूच्छा तिरोहित होती है और मूच्छा से परिग्रह के संग्रह में प्रवृत्ति होती है। अन्तः चेतना की जागृत अवस्था में मनुष्य का मोह भंग हो जाए तो पदार्थ की मूच्छा हटने लगेगी जिससे वह परिग्रह साधनों का सहारा नहीं लेगा, अपरिग्रही वृत्ति को अपनाएगा।"³⁸

अंगुत्तर निकाय में सातवें शील नृत्यगीत वादित्र विरमण के संदर्भ में कहा गया-नृत्य गीत, वाद्य वादन आदि का प्रयोग भिक्षु के लिए वर्जित है। आठवां शील माल्य गंध धारण विलेपन विरमण इसलिए है कि माला आदि धारण करना, सुगंधित पदार्थों का विलेपन करने से विलासिता को बढ़ावा मिलता है। इसी का विस्तार करते हुए नौवें व्रत में भिक्षुओं के लिए ऊंची या कोमल शय्या पर सोने का निषेध है और दसवें शील में स्वर्ण, रजत आदि के उपयोग की सर्वथा मनाही है।³⁹

इच्छाओं के अल्पीकरण तथा अनावश्यक का सीमाकरण करते हुए तथागत बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओं के लिए आवश्यक वस्तुओं में चीवर, भिक्षापात्र, आसन आदि सीमित वस्तुएं रखने का विधान बनाया। इस प्रकार बौद्ध परम्परा में संन्यासी-भिक्षुओं के परिग्रह (पदार्थ) को

अत्यंत सीमित रखने का निर्देश है।⁴⁰ उपरोक्त विवेचन अपरिग्रही वृत्ति की मानसिकता का दिग्दर्शन कराती है।

जैन उपासना पद्धति में श्रमणोपासक श्रावक के लिए "पौषध" का विधान है। इसी तरह बौद्ध परंपरा में भी पौषध की भांति "उपोसथ" करने की परम्परा रही है। बुद्ध के अनेक भक्त (उपासक) अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या को 'उपोसथ' किया करते थे। "उपोसथ में उपासक आठ शील के अंतर्गत नृत्य, गीत, शरीर की विभूषा आदि नहीं करना तथा उच्चासन, सजी-धजी शय्या का त्याग करता था।" अर्थात्- सादगीपूर्ण दिनचर्या व्यतीत करते हुए परिग्रह मात्र से दूर रहकर केवल आध्यात्मिकता को ही महत्व दिया जाता था।"

बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का सिद्धान्त दिया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति त्याग ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति चाहे बाह्य पदार्थ की हो, चाहे वह किसी अतिन्द्रिय आत्मज्ञान के अस्तित्व की हो, वह बंधन ही कहलाएगा। परिग्रह की श्रेणी में चला जाएगा। इसलिए बुद्ध का मानना है कि परिग्रह का मूल 'इच्छा' (आसक्ति) है। "लोभी मनुष्य आसक्ति के कारण अनेक प्रकार के दुःख का अर्जन करते हैं।" इस असीम तृष्णा के लिए अज्ञानी जीव जीवन की बाजी को भी लगा देते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो तृष्णा की समाप्ति के लिए बुद्ध की दृष्टि में एक ही उपाय है-भीतर में संतोष वृत्ति या त्याग भावना का उदय। आचार्य बुद्धघोष ने चैतसिक शील के संबन्ध में कहा-लोभ (अभिध्या) को त्यागकर, लोभरहित चित्त से जो भिक्षु विहरण करता है। सम्यक् दृष्टि तथा 'प्रतिहिंसा और लोभ से रहित होना ही कुशल चैतसिक शील है।⁴¹ इस राजपथ पर चलकर या अपरिग्रह को अपनाया ही जीवन का सर्वोत्तम उपहार साबित होगा।

विख्यात इतिहासविद्, दर्शन जगत के व्याख्याता राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है- "बुद्ध के अनुसार दुःख का हेतु क्या है? उत्तर-तृष्णा।" इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय या काम भोग हैं, उन विषयों के साथ संपर्क, उनका ख्याल ही 'तृष्णा' को पैदा करता है। उसी तृष्णा के अत्यन्त निरोध परित्याग एवं विनाश को 'दुःख निरोध' कहते हैं। प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों, विकल्पों से जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णा का निरोध होता है।"

सांकृत्यायनजी ने 'दुःख निरोध' की प्रक्रिया बताते हुए आगे लिखा- "तृष्णा के नाश होने पर 'उपादान' अर्थात् विषयों के संग्रह करने का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव का निरोध होता है। भव का निरोध होने से पुनर्जन्म का और पुनर्जन्म के निरोध से बुढ़ापा, मरण, शोक, मन की खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है इस प्रकार तृष्णा के दुःख का निरोध होता है। यही दुःख निरोध बुद्ध के सारे दर्शन का केन्द्र बिन्दु है।"⁴²

यहां जो 'तृष्णा के दुःख निरोध' की चर्चा है वही अपरिग्रह सिद्धान्त से मेल खाती है। परिग्रह के दुष्परिणाम जैसे अन्य दर्शनों में बताएं हैं वैसे ही बौद्ध दर्शन भी स्वीकार करता है, इस बात से स्पष्ट हो जाता है। बुद्ध ने भी "तृष्णा निरोध" पर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।

महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण कौन हैं? जिज्ञासा के समाधान में कहा- "ब्राह्मणी माता के गर्भ से जन्म लेने वाले को मैं ब्राह्मण नहीं मानता। जो अविचिन है, तृष्णा रहित है, जो तृष्णा को त्याग कर प्रव्रजित होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। जिसको भूत, वर्तमान या भविष्य में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती, जो परिग्रह और आसक्ति से रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।"⁴³

तथागत बुद्ध ने निर्वाण उसी अवस्था को माना है, जहां तृष्णा संपूर्णतः क्षीण हो गई। आश्रव, चित्तमल अर्थात् भोग पदार्थ, जन्मान्तर और विशेष मतवाद की तृष्णाएं जहां नहीं रह जाती, समाप्त हो जाती हैं।"

निर्वाण प्राप्ति या उत्तम समाधि की प्राप्ति में बाधक दुष्कर तृष्णा को दुःखों का मूल कारण माना है। इसलिए उन्होंने वैयक्तिक तृष्णा के दुष्परिणाम का चित्रण करते हुए कहा- "चिरकाल से तुमने..... माता, पिता, पुत्र आदि परिवार जन के मृत्यु के वियोग को सहन किया है। भोग एवं रोग की मुसीबतों (तकलीफों) को सहा। प्रिय के वियोग में तथा अप्रिय के संयोग होने पर क्रंदनावस्था में जितने आंसू तुमने जन्म-जन्मातरों में बहाए होंगे वे आंसू चारों समुद्रों के जल से भी ज्यादा होंगे।"

तृष्णाओं का त्याग ही मुक्ति अर्थात् "निर्वाण" है। तृष्णा रहित होकर ही भिक्षु अनासक्त बन सकता है। विषयों तथा उनसे संबंधित उपादानों का संग्रह या परिग्रह का भाव तृष्णा रूपी बेल को बढ़ाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रकारांतर से अपरिग्रह की अवधारणा परोक्ष रूप में यहां नजर आती है।

ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में बुद्धघोष ने तेरह प्रकार के "धुतांगों" का वर्णन किया है। जिनका पालन करना भिक्षु के लिए अत्यावश्यक माना गया है। त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, निर्लोभता आदि की वृद्धि के लिए इन धुतांगों का विधान किया गया है। उनके मूल में सर्वत्र ही "अपरिग्रह" की भावना अंतर्निहित है। ऐसा चिंतन रखने वाले डॉ. आनंद मंगल वाजपेयी ने 'विसुद्धमग्गों', परिच्छेद 1 का हवाला देते हुए लिखा है कि - "ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में प्रत्यय संनिक्षित शील का वर्णन है। उसमें भिक्षु के चीवर, पिंडपात आदि के प्रयोग में

अपरिग्रह की देशना विशेष महत्व रखती है। बुद्धघोष कहते हैं कि योगी को इतने ही चीवर के सेवन की आवश्यकता है जितने से शीत, उष्णता, मच्छर, वात, धूल, सरीसृप आदि से बचाव हो सके और लज्जा का नाश न हो।⁴⁴

“पिंडपात भिक्षा का विधान केवल शरीर धारण करने के निमित्त ही विहित है। योगी जो भोजन करता है वह क्रीड़ा के लिए नहीं है, न मद के लिए, न विभुषा के लिए बल्कि भिक्षु अपनी जीवन-यात्रा को ही ध्यान में रखकर “पिंडपात” ग्रहण करता है। यहां भी तृष्णा या परिग्रह भावना का त्याग ही व्यंजित है। ये सभी 13 व्रत क्लेशों को नष्ट करने के कारण धूत (परिशुद्ध) भिक्षु के आचरण के अंग हैं। क्लेशों को धुन डालने के कारण भी इन्हें “धूतांग” कहा जाता है। इन सभी में ‘अपरिग्रह’ की भावना अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होती है।”

उपरोक्त नियमों को स्वयं बुद्ध ने भी जीया था जिसका समर्थन इस रूप में मिलता है- गौतम बुद्ध का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण एवं त्यागमय था। वे दिन में केवल एक बार ही भोजन करते थे। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने कोई वस्त्र किसी गृहस्थ से नहीं लिया। एक बार उनके पुत्र राजकुमार ने उन्हें अपने महल में आमन्त्रित किया। भगवान बुद्ध के स्वागत में दूर तक कालीन बिछाये गए थे। यह देखकर भगवान बुद्ध ठहर गए। उनके प्रिय शिष्य आनन्द को समझते देर नहीं लगी। उन्होंने राजकुमार को कहा, ‘राजकुमार! ये कालीन हटा लो। तथागत इन पर नहीं चलेंगे।’ राजकुमार ने कालीन हटा लिए और गौतम बुद्ध आगे बढ़ चले। अल्प भोजन, अल्प वस्त्र तथा वृक्ष के नीचे खुली जगह ही उन्हें प्रिय थी। इस प्रकार वे त्याग, प्रेम तथा करुणा की प्रतिमूर्ति थे।⁴⁵

विपश्यना और अपरिग्रह

प्रो. अंगराज चौधरी का मानना है कि विपश्यना और अपरिग्रह में बड़ा गहरा संबंध है, अन्योन्याश्रय संबंध है। इस व्रत का पालन बिना विपश्यना अभ्यास के नहीं हो सकता। परिग्रह के मूल में लोभ है और यह मिथ्यादृष्टि है कि जिसका हम संग्रह कर रहे हैं वह शाश्वत नहीं तो दीर्घ-स्थायी तो है ही। विपश्यना का अभ्यास कर हम अपरिग्रह के भाव को बढ़ा सकते हैं। इस अर्थ में विपश्यना साधना है और अपरिग्रह साध्य है।⁴⁶

उन्होंने सुत्तपिटक के ब्रह्मजाल सुत्त के अंतर्गत उल्लिखित लोभ भाव का विवेचन करते हुए कहा -“लोभ को मन से निष्कासित करना बड़ा ही कठिन कार्य है। लोभ बहुत बड़ा विकार है। असाध्य प्रयत्न करना पड़ता है। अपरिग्रह और संतोष भाव को विकसित करके ही हम लोभ

को मन से दूर कर सकते हैं।" संतोष के भाव को विकसित करने में विपश्यना हमारी बड़ी सहायता करती है।" विपश्यना के अभ्यास की उपलब्धि दर्शाते हुए चैधरी जी लिखते हैं - "विपश्यना के गहन अभ्यास से हम वस्तुओं के अनित्य स्वभाव को अनुभव से जानकर, उनसे अनासक्त हो परिग्रह संग्रह करने परांगमुख होते हैं। विपश्यना के अभ्यास से जिसने प्रज्ञा विकसित की है, जो अनुभव से वस्तुओं के असली स्वभाव को जानता है, वही सच्चे अर्थ में अपरिग्रही है। वही अपरिग्रह व्रत का सच्चे अर्थ में पालन करेगा।"

महायान में अपरिग्रह

प्रज्ञापारमिताओं और अन्य प्राचीन महायानी साहित्य के आधार पर शून्यवाद की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करने वाले और उसे व्यवस्थित स्वरूप देने वाले बौद्ध दर्शन के युग विधायक आचार्य नागार्जुन रहे हैं।⁴⁷ उनके द्वारा उनके ग्रन्थों की रचना हुई- महाप्रज्ञापारमिता सूत्र, शून्यतासप्तति, विग्रह व्यवर्तिनी, और माध्यमिक कारिका आदि।

महायान के अनुसार साधकों की तीन श्रेणियाँ हैं- (1) श्रावक (2) प्रत्येकबुद्ध और (3) बोधिसत्व। बुद्ध और बोधिसत्व के अर्चन और अनुग्रह के द्वारा व्यक्ति को तृष्णा क्षय करके मुक्ति के मार्ग में सहयोग को बल देता है। सम्राट अशोक के काल में इस विचारधारा को प्रचारित व प्रसारित होने का अवसर मिला।

आचार्य नागार्जुन ने लिखा है- 'कर्म क्लेशों के क्षय से मोक्ष होता है। कर्म क्लेश विकल्पों से उत्पन्न होते हैं। विकल्पों का उद्भव 'प्रपंच' से होता है। सर्व प्रपंच-निवृत्ति मूलक होने से शून्यता ही निर्वाण होता है। यहां उल्लिखित कर्म क्लेश का संबंध आसक्ति एवं तृष्णा से है। ये परिग्रह के पर्यायवाची होकर दुःख के कारण हैं। इन सब से मुक्त होने में अपरिग्रह का भाव बहुत ही उत्तम उपाय साबित हो सकता है।

धार्मिक विषयों को लेकर बौद्धमत के दो संप्रदाय हो गए- (1) हीनयान और (2) महायान। हीनयान में बौद्धधर्म का प्राचीन रूप पाया जाता है। जबकि महायान अर्थात् "बड़ा पंथ" में उदारता तथा धर्मप्रचार की भावनाएं वर्तमान थीं। फलस्वरूप महायान का प्रचार हिमालय के उत्तर चीन, कोरिया तथा जापान तक हो गया।"

महायान की विभिन्न शाखाओं में अनासक्ति संबंधी कुछ विचार देखे गए। नागार्जुन कहते हैं कि यदि मनुष्य यह समझ सके कि संसार का पारमार्थिक रूप क्या है तो संसार में रहकर भी निर्वाण को प्राप्त कर सकता है- "न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्"। इस प्रकार महायान सांसारिक संघर्षों से अलग रहने की शिक्षा तो नहीं देता, किन्तु इस बात पर

बल देता है कि हमारे सांसारिक कार्य आसक्ति पूर्ण न हों। अनासक्ति प्रधान हो।⁴⁸ बौद्ध महायान परम्परा के 'बौद्ध सिद्धान्त सार' में 10 कुशल कर्म पथ और 10 अकुशल विरति शील का उल्लेख है। प्रो: कृष्णनाथ ने 10 अकुशल शील को तीन भागों में मन, वचन कायिक के प्रकार विभ्लेषित करते हुए लिखा- 'मानसिक अकुशल के तीन प्रकारों में एक है- 'अभिध्या' अर्थात् दूसरे की संपत्ति को हड़पने की इच्छा करना। यह लोभ से प्रेरित विषेय भाव है। महायान परम्परा में द्विविध आवरणों की अवस्था है- (1) क्लेशावरण और (2) ज्ञेयावरण। पुद्गलात्मकदृष्टि तथा उससे संबद्ध 'क्लेशावरण' कहलाता है। पुद्गलात्मकदृष्टि से तात्पर्य है पुद्गल अर्थात् आत्मा को ग्रहण करने वाली दृष्टि। क्लेशों के अतिरिक्त बाह्यार्थ दृष्टि अर्थात् बाह्यस्थित श्रेय पदार्थों को सत् समझने वाली दृष्टि 'ज्ञेयावरण' है। यह आवरण सर्वज्ञता की प्राप्ति में बाधक होता है।⁴⁹ इस प्रकार बौद्धदर्शन की महायान परम्परा में भी 'अपरिग्रह' का विचार कर्म, क्लेशक्षय, अनासक्ति, तृष्णाक्षय आदि स्वरूपों में प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

बौद्ध दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों का परिशीलन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि- महात्मा बुद्ध ने परिग्रह की भावना को 'तृष्णा' नाम से पहचाना है। बौद्ध ग्रन्थों में आसक्ति-तृष्णा को सभी बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना है। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति चाहे पदार्थों की हो या आत्मा के अस्तित्व की हो, वह बंधन ही है। तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है।

बौद्ध दर्शन में 'परिग्रह' या अपरिग्रह शब्द का प्रयोग न हुआ हो फिर भी भाव, भाषा तथा उपमा आदि के द्वारा अपरिग्रह भावों से वह प्रभावित दिखाई देता है। परिग्रह शब्द के स्थान पर वहाँ मोह, ममता, आषा, तृष्णा, लोभ आदि शब्दों का प्रयोग किया है। बौद्ध दर्शन में निष्परिग्रहत्व पर भी बल दिया गया।

इस तरह के प्राप्त वर्णन के अनुसार हम यह कह सकते हैं, ज्ञातपुत्र महावीर के समकालीन रहे गौतम बुद्ध ने भी चाहे "संतोषवृत्ति" या, 'अनासक्ति' अथवा 'वित्तृष्णा' या 'तृष्णा त्याग' को अपने जीवन सिद्धान्तों में स्थान देकर "अपरिग्रह" व्रत को पुष्ट किया है।

सन्दर्भ सूची

- (1) धम्मपद 15-6 पृ. 92.
- (2) धम्मपद-तणहावग्ग, 24-19 पृ. 156.
- (3) धम्मपद प्राकृत-84 पृ. 68.

- (4) धम्मपदं(पाली)-342 पृ. 151.
- (5) धम्मपदं प्राकृत ब्राह्मणवर्ग, 8 से 10 पृ. 61.
- (6) भदन्त आनंद कौसल्यायन,पाली हिन्दी कोष पृ. 9.
- (7) धम्मपदं(पाली)-352 पृ. 156.
- (8) वहीं पृ. 148.
- (9) वहीं 353 पृ. 156.
- (10) वहीं, तण्हावग्ग-359 पृ. 159.
- (11) मज्झिमनिकाय-(महादुःखन्ध) 1-2-3 पृ. 54.
- (12) पालंजल योग प्रदीप-बुद्ध वचन सूत्र 17 पृ. 301.
- (13) राहुल सांकृत्यायन, मज्झिमनिकाय- पृ. 168.
- (14) दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन- पृ. 66.
- (15) सुत्तनिपात 68-5.
- (16) सुत्तनिपात 26/19-23 भिक्षु धर्मरत्न, धेरगाथा 16-734.
- (17) सुत्तनिपात तथा बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 38.
- (18) पाली हिन्दी कोष पृ. 45.
- (19) धम्मपद प्राकृत 162 पृ. 74.
- (20) अंगुत्तर निकाय 2-11-3 पृ. 131.
- (21) विशुद्ध मग्ग 1-1 धनमुनि, वक्तृत्व कला के बीज, भाग-2 पृ. 131.
- (22) अंगुत्तर निकाय 9-2-4.
- (23) अंगुत्तर निकाय 2-11-1 पृ. 120.
- (24) संयुक्त निकायो-2 खन्धो 1 भार वग्ग-3, पृ. 23, 24.
- (25) वहीं 4-3-3 एवं भगवती आराधना परिषीलन पृ. 273.
- (26) डॉ. श्वेता जैन (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश, पृ. 388.
- (27) बोधिचर्यावतार, महाबोधि सभा सारनाथ (बनारस) पृ. 8.
- (28) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 70.
- (29) धम्मपद-359 पृ. 159.
- (30) अंगुत्तर निकाय 3-6-2.
- (31) सुत्तनिपात 1-107.
- (32) अंगुत्तर निकाय 1-1-32.
- (33) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त- पृ. 73.
- (34) दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन पृ. 137.

- (35) देवदत्त पटनायक, मेरी गीता, पृ. 234.
- (36) अंगुत्तर निकाय-निपात तन्हा मूलक सुत.
- (37) बौद्ध धर्म दर्शन-आचार्य नरेन्द्र देव पृ. 19.
- (38) डॉ. सुषमा सिंघवी अपरिग्रह विश्वकोष पृ.23.
- (39) डॉ. आनंदमंगल वाजपेयी (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोष पृ.523.
- (40) विनयपिटक महावग्ग पेठावत्थु अट्ठकथा गाथा 209 पृ. 138.
- (41) दर्शन-दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन पृ. 506.
- (42) मुनि नथमल, उत्तराध्ययन:एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. 49, 51.
- (43) धम्मपद प्राकृत-161 पृ. 74.
- (44) धर्मचन्द्र जैन, श्वेता जैन, बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त पृ. 25.
- (45) डॉ. आनंद मंगल वाजपेयी (आलेख) अपरिग्रह विश्वकोश- पृ. 523.
- (46) कृष्ण गोपाल, भारत की संत परम्परा और सामाजिक समरसता पृ. 80.
- (47) मुनि राकेश कुमार भारतीय दर्शन के प्रमुख वाद, पृ. 69.
- (48) प्रो. कृष्णनाथ (आलेख) अहिंसा विश्वकोष पृ. 484.
- (49) बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, पृ. 119.

Nibandha Mala Journal

Certificate of Publication

is awarded to

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

for the paper titled

आचार्य महाप्रज्ञ की कहानियों में जन चेतना की दृष्टि

Published in *Nibandha Mala* Journal Vol-11, Issue-12 December-2019 ISSN: 2277-2359

International Refereed and Indexed Journal for Research Publication

With Impact Factor 5.1 UGC Care Listed



S.N. Sharma

Editor-in-Chief

editor@hindijournals.org



UGC
University Grants Commission



आचार्य महाप्रज्ञ की कहानियों में जन चेतना की दृष्टि

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी¹, अभिषेक चारण²

¹निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय), लाडनू-341306 (राजस्थान)।

²सहायक आचार्य, आचार्य कालू कन्या महाविद्यालय, जैन विश्वभारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय), लाडनू-341306 (राजस्थान)।

आलेख सार

आचार्य महाप्रज्ञजी का सृजनात्मक रचना लेखन जिन परिस्थितियों में आरंभ हुआ उसका उद्देश्य तमाम तरह के विभेदों को मिटाकर समतामूलक समाज की स्थापना करना था। तात्कालिक समाज छूआछूत और ऊंच-नीच जैसी तमाम बुराईयों से ग्रस्त था। इन बुराईयों से मुक्ति हेतु एक जागरूक रचना लेखन एवं सच्चे कहानीकार धर्म की आवश्यकता थी ताकि सामुदायिक संरचना में समूल परिवर्तन लाया जा सके।

महाप्रज्ञजी ने तमाम जैन संतों को साथ लेकर कथा साहित्य के माध्यम से एक स्वर में न केवल खोखले कर्मकाण्डों और धर्म की आड़ में जारी पाखण्डों का विरोध किया अपितु समाज को नई दशा और दिशा दी। अपनी कहानियों में उन्होंने वर्ग भेद और वर्ण भेद की मानसिकता में जकड़े समाज को सौहार्द और सहिष्णुता से परिपूर्ण एक नवीन जीवन दृष्टि दी। एक ऐसी जीवन दृष्टि जिसमें ग्लैच्छ और विधर्मियों तक के लिए अहिंसा एवं सत्कर्म का मार्ग प्रस्तुत किया गया।

कुल मिलाकर महाप्रज्ञजी का समूचा कथा संसार ना केवल भारतीय धर्म और समाज बल्कि समग्र सृष्टि के लिए जनचेतना की दृष्टि लेकर आया। धर्म के नाम पर चली आ रही वर्षों पुरानी भ्रांत धारणाओं के स्थान पर युगानुकूल और तर्क सम्मत अवधारणाओं की स्थापना इनकी महानतम उपलब्धियों में से हैं।

मुख्य शब्दावली: रूखसार (चेहरा), प्रभावोत्पादक (प्रभाव उत्पन्न करने वाला), गागर में सागर (सीमित शब्दावली में बहुत गहरे भावों की अभिव्यक्ति), चरैवैति-चरैवैति (निरन्तर चलते रहो, चलते रहो), सरसता (रसयुक्त), यथार्थता (वास्तविकता)।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि इस लम्बीसाहित्यिक परम्परा को विस्तार से व्याख्यायित करने के लिए इतिहास लेखकों ने इसे चार काल खण्डों में सर्वमान्य रूप से विभाजित किया जिन्हें आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिककाल के नामों से जाना गया। इस इतिहास परम्परा के प्रथम विभाजन आदिकाल में ही जैन कवियों की साहित्य परम्परा के दर्शन हो जाते हैं। आदिकालीन धार्मिक साहित्य में सिद्ध नाथ एवं जैन साहित्य का बोलबाला रहा और इन सब में भी जैन साहित्य को सर्वाधिक प्रामाणिक माना गया है। क्योंकि जैन कवियों की दुर्लभ लेखनी आज भी पुस्तकाकार रूप में सुरक्षित मिलती है। हिन्दी के जाने माने आलोचक डॉ. रामकुमार वर्मा ने तो हिन्दी के पहले कवि के रूप में भी जैन कवि स्वयंभू को स्वीकारा है जिनका समय 643 ई. में ठहरता है। इनके बाद यह परम्परा जैन कवि पुष्पदन्त से होकर आगे बढ़ी। जैन काव्यों का प्रमुख रस शांत रहा है, क्योंकि अहिंसा एवं नैतिकता इनके रक्त संस्कारों का अभिन्न अंग रही है।

आधुनिक युग की 20वीं सदी में भी जिन व्यक्तित्वों ने जैन कवियों की इस समृद्ध साहित्यिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने का जो महनीय उपक्रम किया है उनमें आचार्य तुलसी एवं उनके महान दार्शनिक शिष्य आचार्य महाप्रज्ञ का विशेष अवदान रहा है।

तेरापंथ धर्मसंघ वर्तमान में एक प्रबुद्ध एवं समृद्ध धर्मसंघ के रूप में प्रतिष्ठित है। एक तरफ जहां अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के कुशल नैतृत्व में इस धर्मसंघ ने अत्यन्त विकास किया वहीं आचार्य महाप्रज्ञ की प्रेक्षा दृष्टि, व्युत्पन्नमती और आध्यात्मिक व्यक्तित्व से इस धर्मसंघ को आश्चर्यजनक गुणात्मक विस्तार मिला। महाप्रज्ञ की विलक्षण प्रतिभा और जागृत प्रज्ञा का आभास कर प्रसंगवश कभी आचार्यश्री तुलसी ने युवाचार्य महाप्रज्ञ के बारे में यहाँ तक कहा था कि युवाचार्य संघ के लिए उतने ही मान्य और सम्माननीय हैं जितने कि आचार्य हैं। जिसने भी आचार्य महाप्रज्ञ को निकट से देखा उन्हें इस कथन के बारे में किसी प्रमाण की अपेक्षा महसूस नहीं हुई। ऋजुता, सरलता की प्रतिमूर्ति अकलान्त दार्शनिक विभूति महाप्रज्ञ का नथमलिज्म (महाप्रज्ञवाद) भी गांधीवाद की तरह लोकप्रिय हुआ। प्रदर्शन एवं प्रचार से अछूते, कर्मशील व्यक्तित्व के धनी आचार्य महाप्रज्ञ चरैवेति-चरैवेति में ही विश्वास करते थे।

आचार्य महाप्रज्ञ और कहानी विधा

साहित्य को सदैव समाज का दर्पण कहा जाता रहा है और दर्पण में अपार संभावनाओं को उकेरने का सामर्थ्य होता है और जब बात साहित्य की विधाओं की हो तो सबसे स्पष्ट रूपसे कहानी विधा को माना जा सकता है क्योंकि दर्पण की स्पष्टता दर्पण का मूल्य तय करती है ऐसे में कहानी विद्यारूपी रूपसे, दर्पण की इस खूबी में चार चांद लगा देता है।

यहां कहानी विधा को समाज साहित्य दर्पण का रुखसार कहने का तात्पर्य यह है कि चूंकि शरीर में मौजूद कुल पांच ज्ञानेन्द्रियों में से सर्वाधिक ज्ञानेन्द्रियों का माध्यम रुखसार ही होता है ठीक उसी प्रकार साहित्य की तमाम विधाओं में कहानी विधा ही एक ऐसी विधा है जिसके माध्यम से संसार की समस्त संवेदनाओं और जनचेतनाओं को बखूबी उकेरा जा सकता है इतिहास से लेकर वर्तमान तक लोककथा व दन्त कथाओं की रोचकता के हिचकोले खाती यह मंदधारा वर्तमान में विशालकाय दरिया में तब्दिल हो चुकी है जिसका न कोई आदि है न अंत। भारतीय आजादी आन्दोलन के दौर में जन्मे कहानी सम्राट प्रेमचन्द (1880) ने तो कहानियों के माध्यम से जिस प्रकार जनचेतना को इंकृत किया उसकी खनक वर्तमान पीढ़ियों को भी उसी सुमधुर आवाज में चेतन कर जाती है आजादी के ठीक बाद या कि कहे आजादी के आनंद में गोते लगाते वक्त शायद अधिकांश जनमानस एक बार फिर अपनी जिम्मेदारियों से विमुख और चेतना शून्य हो चला ऐसे में फिर एक प्रेमचन्द सरीखे युगपुरुष का जन्म होता है जो राजस्थान के टमकोर कस्बे में नथमल के रूप में जन्म लेता है तत्पश्चात् जैन मुनि नथमल के रूप में विकसित होता है और यही से शुरू हो जाती है वो प्रकाश यात्रा जिसकी चेतना शून्य समाज को सर्वाधिक आवश्यकता थी उन्होंने न केवल दीक्षा ली बल्कि सच्चे अर्थों में दीक्षित होने के नये आयाम स्थापित किये उन्होंने महाप्रज्ञ बनने तक के सफर में छोटी-छोटी रुचिकर कथाओं को प्रवचनों का आधार बनाकर समाज को चेतना की पटरी पर लाने में अभूतपूर्व योगदान दिया जिसे किसी भी स्थिति में नकारा नहीं जा सकता उनके द्वारा लिखी इन्हीं कहानियों का बाद में संकलन हुआ। 43 लघुकथाओं का संग्रह है 'गागर में सागर' और 'महाप्रज्ञ की कथाएं' (पांच भाग) जिसे मानवीय संवेदनाओं का अनूठा दस्तावेज माना जा सकता है। स्वयं महाप्रज्ञ के अनुसार एक छोटी-सी कहानी उतना बड़ा तत्व समझा देती है जितना हजारों पृष्ठ नहीं समझा पाते। हृदय की मांग है सहजता और सरसता। उसी की पूर्ति के लिए जब मनुष्य ने प्रयत्न किया तब कहानी का जन्म हुआ। महाप्रज्ञ प्रवचनों में सरसता हेतु प्रयुक्त कथाओं को महाप्रज्ञ की कथाएं, इस नाम से पांच खण्डों में विभक्त है। इन्हीं पांच खण्डों में संकलित कहानियों में जन चेतना की यह धारा बेहद समृद्ध सांस्कृतिक धरातल जैन आचार्यों के श्रीमुख से आज भी आचार्य महाप्रज्ञ के उद्देश्य को जनमानस तक पहुंचाती रहती है जोकि वास्तव में जनचेतना की संवाहक है।

महाप्रज्ञ की कहानियों में जनचेतना की दृष्टि

कथा गद्य साहित्य की एक रोचक विधा है। यह स्थूल या सूक्ष्म कथानक के साथ समाज की किसी एक स्थिति, जीवन की किसी एक समस्या, मनुष्य की किसी एक प्रवृत्ति या उसके चरित्र की किसी एक विशेषता का छोटा-सा चित्र अंकित कर देती है। कथा के माध्यम से बात कहने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आचार्य महाप्रज्ञ अपने प्रवचनों में कथाओं का प्रयोग करते रहे, जिससे श्रोता प्रतिपाद्य को सरलता से हृदयंगम कर सके। आचार्य महाप्रज्ञ की

कथाएं आकार में लघुता, संवेदन की तीव्रता, प्रभावान्विता, जीवन में किसी एक सत्य खण्ड की प्रतिष्ठा, रोचकता और सक्रियता आदि अनेक विशेषताएं लिए हुए हैं।

कथाओं में सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना तथा बदलती हुई परिस्थिति से उत्पन्न विश्रृंखलता का समाधान भी प्रस्तुत है।

इनमें कुछ कथाएं काल्पनिक, कुछ ऐतिहासिक तथा कुछ कथाएं हास्यप्रधान भी हैं। कहीं-कहीं एक ही कथा को भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया है। उनकी कथाओं की एक सबसे बड़ी विशेषता है कि भाषा कसी हुई है। कहीं भी अनावश्यक विस्तार करके कथानक के तत्व को शिथिल या नीरस नहीं होने दिया है। कथा के माध्यम से दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाकर उसका निष्कर्ष निकालने की अद्भुत क्षमता आचार्य महाप्रजजी में थी।

कथा के माध्यम से जो अवबोध उन्हें इष्ट है वह मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। कथाओं का प्राण है उनका निगम। वह प्राण ही दूसरों को अनुप्राणित करता है और यह महाप्रजकी कथाओं की विशेषता है।

आचार्य महाप्रज के कथाओं की सात पुस्तकें प्रकाशित हैं। गागर में सागर, महाप्रज की कथाएं-गागर के 5 भाग हैं।

गागर में सागर-इस कृति में छोटी-छोटी कथाओं का समावेश है। ये लघु कथाएं हृदय को छूती हैं और अध्येता को झकझोर देती हैं। स्वयं लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि जो बात हजारों पृष्ठों में नहीं समझाई जा सकती, जो बात हजार बार कहने से भी ग्रहण नहीं बनती, वही बात एवं छोटी सी छोटी कथा समझा सकती है।

प्रस्तुत कृति में विभिन्न बोधवाक्यों से संबंधित पद कथाएं हैं। इनके पठन से व्यक्ति आनन्द से आप्लावित हुए बिना नहीं रहता। कथाओं की भाषा अलंकारिक और प्रसादगुण युक्त है।

महाप्रज की कथाएं-यह पांच भागों में संकलित है। इनमें कुछ ऐतिहासिक घटनाएं हैं, कुछ पारम्परिक और कुछ काल्पनिक। कथाएं या घटनाएं इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती महत्वपूर्ण होता है उनका प्रतिपाद्य या उनका जीवन्त सत्य, जो कथाकार इस जीवन्त सत्य को शब्दों का उचित परिवेश दे पाता है। वह उनको सर्वाधिक उजागर कर प्रभावोत्पादक बना देता है। जैसे महारानी विक्टोरिया गई, दरवाजा खटखटाया। भीतर था प्रिंस अलबर्ट। उसने पूछा कौन है? वह बोली महारानी विक्टोरिया। दरवाजा खुला नहीं। फिर खटखटाया। फिर पूछा कौन है? उसने कहा आपकी प्रिय पत्नी विक्टोरिया। तत्काल दरवाजा खुल गया। महारानी के लिए दरवाजा नहीं खुल सकता और प्रिया के लिए दरवाजा खुल सकता है। एक का अहंकार दूसरे में भी अहंकार पैदा करता है। एक की विनमता दूसरे को भी विनम्र बना देती है।

इस प्रकार प्रत्येक कथा छोटे एवं सरस वाक्यों में निबद्ध है जो पाठक का ध्यान खींचती है। आज के व्यस्त मानव के मनोरंजन एवं जानवर्धन हेतु ये कथाएं अपना विशेष स्थान रखती हैं।

महाप्रज्ञा का एक सच्चा कथाकार रूप

महाप्रज्ञा के अन्यान्य कर्तृत्व में विविध आयामी साहित्यिक लेखन प्रमुख है। वह केवल शब्द संकलन को ही साहित्य नहीं मानते अपितु उनके अनुसार साहित्य वह है, जो जीवन्त समस्या को समाहित करता है। वर्तमान और भविष्य को बांधकर साथ में चलता है तथा प्राणियों में संस्कार और स्फूर्ति भरता है।

विभिन्न साहित्यकारों ने साहित्य की विभिन्न कसौटियां निर्धारित की हैं किन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि सृष्टि की विविधता, विचित्रता, मनोरमता, व्यवस्थितता, मनमोहकता का अंकन, सत्यं शिवं सुन्दरं का प्रसारण साहित्यकार की कसौटी निर्धारित करती है। साहित्यकारों की जो कसौटियां विद्वानों ने निश्चित की उन पर महाप्रज्ञा का साहित्य खरा उतरता है। व्यक्ति-व्यक्ति का निर्माण और सुखी समाज की संरचना को महाप्रज्ञा कहानी का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की आभ्यन्तर ज्योति को प्रज्वलित करना, विवेक चेतना और नैतिक चेतना का जागरण करना, मानवीय संवेदना का जागरण करना, मानवीय चेतना में समता और अनुकम्पा की जागृति करना भी वे कहानी का उद्देश्य मानते थे।

महाप्रज्ञा साहित्य को किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष तक सीमित नहीं मानते थे उन्होंने जीवन के प्रत्येक घटक को छूने का प्रयास किया और मनुष्य के सर्वांगीण विकास के सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। जनता की विभिन्न रुचियों के आधार पर इन्होंने धर्म, अध्यात्म, राजनीति, समाजनीति, विज्ञान, दर्शन, आचार, इतिहास, मनोविज्ञान, योगशिक्षा इत्यादि सभी क्षेत्रों को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है। वे युगबोध के साथ चलते थे और वर्तमान को व्याख्यायित कर अनागत की शाश्वत कल्पना करते थे। वे हर तथ्य को विज्ञान की कसौटी पर कसते हैं तथा धर्म के हर पहलू को वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषित करते हैं। अध्यात्म और विज्ञान वर्तमान समय की आवश्यकता है। अतः दोनों का सामंजस्य यथार्थ है। अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की आवश्यकता विवेकानन्द ने महसूस की थी। आचार्य विनोबा ने भी अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय पर अत्यधिक बल दिया था। महाप्रज्ञा साहित्य में अध्यात्म और विज्ञान का एक साथ प्रतिपादन ही नहीं किन्तु उन्हें एक-दूसरे के पूरक के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है। जर्मनी के एक व्यक्ति ने कहा-जैन धर्म में सुपर सोनिक कम्प्यूटर के तत्त्व विद्यमान हैं। उनसे पूछा गया कि आप यह किस आधार पर कह सकते हैं? उनका जवाब था-मैंने महाप्रज्ञा के साहित्य को पढ़ा है। उसके आधार पर यह कह सकता हूँ कि जैन धर्म में कम्प्यूटर के जिस स्वरूप की घर्चा है, विज्ञान अभी भी उससे बहुत दूर है।

कथा साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने मौलिक सृजन की दिशा में जो कीर्तिमान स्थापित किया, वह किसी भी युग के साहित्यकारों की चेतना को झकझोरने वाला है। किसी भी लेखक की सबसे जीवंत रचना वही होती है, जिसे पढ़ने से ऐसा प्रतीत हो कि लेखक का जीवन इसमें बोल रहा है। महाप्रज्ञ ने अपनी कथा चेतना में जीवन की चेतना का संप्रेषण कर साहित्य जगत् को उपकृत किया है।

निष्कर्ष

महाप्रज्ञ के संपूर्णकथा साहित्य का साक्षात्कार करने के पश्चात् निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाप्रज्ञ की कहानियों में सूक्ष्म विषयों को यथार्थता के साथ बेहद सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया एवं उनके कहानी रचना संसार में गंभीर, नैतिक, दार्शनिक एवं सामाजिक सरोकार से संबंधित प्रश्न सदैव उठते रहे और उन सभी प्रश्नों का पूर्णतः समाधान भी उन्हीं के द्वारा ही दिया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि महाप्रज्ञ युगीन, चेतनशील एवं सच्चे कर्मप्रधान पुरुष थे जो कि न केवल स्वयं नैतिकता के रास्ते पर चले अपितु अपनी लघु कथाओं के माध्यम से अपने साथ समूचे देश को एक सूत्र में बांधकर साथ चलाने का अनूठा उपक्रम किया। जिसकी बानगी हेतु निम्नलिखित पंक्तियां प्रस्तुत हैं-

*"न हो मतभेद आपस में, छलावाँ को हरायें हम
उजाला प्रीत का लेकर नये दीपक जलायें हम।
सितारों सा सदा चमके नगीनों सा सदा दमके
ये अपना देश है इसको चलो मिलकर सजाये हम।।"*

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. दुलहराज, मुनि (2009) महाप्रज्ञ की कथायें, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. विश्रुतविभा, साध्वी, विमलप्रज्ञा, साध्वी (2007) "महाप्रज्ञ ने कहा", आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. दुलहराज, मुनि (1996) "मेरी दृष्टि मेरी सृष्टि", आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान)।
4. महाप्रज्ञ, आचार्य (2003) "चिंतन का परिमल", जैन विश्व भारती, लाडनूं।
5. विश्रुतविभा, साध्वी (2013), "महाप्रज्ञ प्रबोध, जैन विश्व भारती, लाडनूं।
6. त्रिपाठी, प्रोफेसर आनन्दप्रकाश (2013), "भारतीय दर्शन को आचार्य महाप्रज्ञजी का योगदान"-युनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर।
7. वर्मा, डॉ. रामकुमार (2010), "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"-लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद।
8. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (1929), "हिन्दी साहित्य का इतिहास"-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

9. त्रिपाठी, आचार्य विश्वनाथ (2012), "हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास"-Orient Blackswan Pvt. Ltd.
10. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (1986), "हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास"-लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद।
11. गुप्त, डॉ. गणपतिचन्द्र (दसवां संस्करण-2013), "हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास"-लोक भारती प्रकाशन, इलाहबाद।
12. डॉ. नगेन्द्र (1973-2014), "हिन्दी साहित्य का इतिहास" (सम्पादित)-मयूर पेपरबैक्स, जयपुर।
13. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद (2015), "हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास"-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
14. मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद (2012), "हिन्दी साहित्य का अतीत"-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
15. शर्मा, डॉ. नलिन विलोचन (1960-97), "हिन्दी साहित्य का दर्शन"-बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
16. सिंह, डॉ. बच्चन (1996), "हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास"-राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
17. (1957-84), "हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास"-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

Religion, Caste, Community, and Hierarchy: A Study of UR

Anathamurthy's Samskara

Somvir Sangwan¹, Prof. Anand Prakash Tripathi²

Assistant Professor, Acharya Kalu Kanya Mahavidyalaya, Jain Vishva Bharati Institute, (Deemed University), Ladnun - 341306 (Rajasthan)

Director, DDE, Jain Vishva Bharati Institute, (Deemed University), Ladnun - 341306 (Rajasthan)

Abstract

Anantha Murthy's novel Samskara has accomplished translated recognition throughout the globe as a cutting edge classic of Indian writing. In spite of the fact that it has created a lot of critical remarks, insufficient consideration has been given to its gender representation. Discussions of the novel's gender politics have either focused on its positive depictions of feminine beauty and activity or have taken a dreary perspective on its sexist arrangements. Re-scrutinizing the novel's gender representation through socially shaded lenses, this article uncovers different sites of gender discrimination and identifies a subtext that can offer a progressively positive enunciation to Samskara's gender politics.

Keywords: Body, Consciousness, Culture, Gender, Kannada Novels, Literature, Prakriti, Rasa, Sexuality, Women, Orthodox, Prejudice, Anti-Brahmin, Anti-Caste, Anti Community.

Introduction

U.R. Anantha Murthy's Kannada novel Samskara has created a scope of basic sentiment since its distribution in 1965 and subsequent translation into English by A.K. Ramanujan. In any case, insufficient consideration has been given to gender representation in the novel.

The article is partitioned into three parts. An overview of its gender representation follows a summary of the novel. The second part analyses specifically the politics of gender operationalized in, around and through the figure of Chandri. At last, the article excavates an elective meaning to Samskara's gender coding in the portrayal of Bhagirathi.

Samskara tells the story of the interconnected crises variously upsetting the Brahmin and outcaste residents of its non-descript anecdotal town setting, Durvasapura. The vulnerability about who can or should play out the incineration rites for the anti-hero, Naranappa-making

a crisis of confidence and religious observances is symbolically and connected with the deadly spread of plague in Durvasapura, prompting a sociological crisis. These events, thus, trigger a spiritual and existential crisis in the religious guru of the settlement and legend of the novel, Praneshacharya, which it is the task of Samskara to follow till the end. This article seeks to outline the graphs of gender in such an interlaced account. A harsh stock of all the female characters in Samskara reveals two groupings, Brahmin ladies and various types of lower and outcaste ladies. The previous classification includes Bhagirathi, Anusuya, Sitadevi, Lakshmiddeviamma, and Lilavati, while Chandri, Padmavati, Belli and Putta's significant other have a place with the latter class. In the novel's telling, the "Brahmin ladies constitute an amazingly unappealing gathering of characters: evaporated, undesirable, envious, cowardly and gagging on their spleen. Against this, the lower and outcaste ladies are presented as varieties of sound womanhood.

As indicated by Mukherjee (1985: 172), it is basic practice in Indian novels that 'outcaste or lower-caste ladies are frequently enriched with more noteworthy sexual imperativeness than their high-

conceived counterparts.' Paraphrasing RajarKanta Ray's ID of socioeconomic factors to clarify this marvel, Mukherjee (1985: 172) writes:

“Chastity, satitva, and repentance for widows can't be the values of a class that does not have the monetary means to implement them, and obviously, this opportunity adds to the uninhibited naturalness of the lower-caste ladies. In any case, the arrangement of a stereotype is not a simple process. The easy accessibility of lower-caste ladies may also have permeated them with a progressively glorious suggestive quality in the male creative mind. (Emphasis included).”

The last two lines referred to here to play out an essential qualifying capacity. By bringing the question of male creative mind' to hold up under on a substance seen distinctly as a kind of symptomatic • description, Mukherjee directs regard for the possibility that what passes for target realism could similarly be a case of new projection. To create what is verifiable in her insight, easy accessibility' regularly is a euphemism for systems of institutionalized sexual abuse of outcaste and lower-caste ladies by upper-caste men.' Further, male sexual desires are routinely mapped onto categories of socially quieted female bodies and

afterward recouped infamous and high culture as expressions of ladylike sexuality, regardless of whether to recognize or censure it.

Representation of Lower and Outcaste Women

In Samskara, the process of sexualizing ladies can be seen at work in the first recalled tryst among Shripati and Belli. The episode itself is described twice, once in an exchange among Naranappa and Praneshacharya (Murthy, 1999: 24, 25) and once as a component of Shripati's self-reflection (Murthy, 1999: 39). The two times, it is presented exclusively from the last's perspective. What is conspicuous by its absence, at that point, is any notice of Belli's response, all the more specifically, any notice of her consent. This is neither sought nor given any expression. It seems as though her caste (outcaste) + body (female) is and constitutes her consent, her desire. The inconsequentiality of Belli's volition in what transpired on the riverbank to Shripati, to Naranappa, and in fact to Praneshacharya, underlines her total invisibility as an autonomous subject inside the perspective of the novel. Just the ascription of sexual imperativeness and excellence to ladies, along these lines, need not consequently signal any genuine or sympathetic impression of them.

Valorization of Female Sexuality

Indeed, even the opposite: a valorization of female sexuality as the sole indicator of lady's worth, especially when explained in exclusively heterosexist terms and from restricted andocentric perspectives, can be a repackaging of the 'woman is a womb cliché as the 'woman is her body' or, more specifically, the 'her sexual appeal...to man' dictum. This displaced decrease and reification are precisely what is witnessed in Naranappa's ethic of sexual freedom.

Naranappa's dynamic espousal of the libidinal supplies a necessary remedial to the encrusted forms of Brahmin praxis, its vitrified, dishonest kaminikancan abhorring perfect. Assaulting the decision varnashrama twofold of chaste (because accessible just to one man through marriage) 'great' upper-caste ladies and promiscuous (because accessible to numerous men through sorted out systems of business and authorized service as well as pleasure) 'terrible' lower-caste ladies as an untruth, Naranappa certainly clears the space for a substitute view of ladies to rise in this novel. This recognition redeems ladies' sexuality from the disparaged margins to which it was vowed by its persistent associations with death, misleading, lust, and shame in standard accounts. He also provides a positive

character and incentive for entire classes of up to this point sexually characterized and in the process disparaged ladies, such as prostitutes, devadasis and lower-Caste outcaste ladies.

Hetero Sexuality opens up at different channel of oppression

Be that as it may, this exclusive distinguishing proof of a lady with her (hetero)sexuality also opens up to various avenues of abuse by choosing not to see different aspects of her being. By Naranappa's standards, the main ladies worth thinking about and living with are the ones that are sexually alive, appealing and serviceable to men. At the end of the day, he swears by a ruthless setup or shut-up, a use-and-toss philosophy that is gendered as well as misogynistic, since it recognizes no different ties of obligation, reliability, friendship, mindful or compassion among man and lady. Taken to its consistent outrageous, such a belief system would involve either the murdering off or surrender of all old, ugly, sickly, unresponsive or otherwise-slanted ladies. To be sure, Naranappa himself is liable of the one and speaks enthusiastically of the other (Murthy, 1999: 26).

What renders Naranappa's unique agreement especially questionable, is its

uneven focus. Ladies are understood instrumentally to suit male sexual needs, yet Naranappa never entertains the possibility of a reverse utilitarianism. Truth be told, by simplistically attacking the sexual coldness of Brahmin ladies as the main driver of social anomie in Durvasapura, Naranappa seems to represent Brahmin men as somehow the harmed party. However, the novel itself reveals the certified stake that Brahmin men have in controlling the sexuality of their ladies. DurvasapuraMadhva Brahmins are high-up in the caste pecking orders because, 'sour burp' or no, Lakshmidiviamma is chaste. Parijatapura has slipped down the scale of Brahmin respectability because their lines [had gotten) somewhat blended... some libertine got one of their widows pregnant... the master at Shringeri ... banned the entire settlement' (Murthy, 1999: 12). At last, by directing a superficial male-recognized study of Brahmin practices and philosophy, Naranappa's enterprise of sexual freedom fails to give a really emancipator option in contrast to ladies in Samskara.

Chandri and the Politics of Gender in *Samskara*

Given her representation in the novel, it is easy to see why critics may wax

persuasive about Chandri. Nonetheless, they overestimate her emancipative job and potential. They miss or overlook the way that however Chandri stands outside the caste-crease, she stands outside it in terms set somewhere around that selfsame caste society. Chandri is free not in spite of but since she has disguised totally her conventional inscription as a casteless nityasumangali (see Kersenboom, 1998). For evidence, consider Chandri's self representation as well as her thoughts and actions. As indicated by Chandri (Murthy, 1999: 44):

... no sin will ever rub off on her. Born to a family of prostitutes, she was an exception to all rules. She was ever-auspicious, daily wedded, the one without widowhood. How can sin defile a running river? It's good for a drink when a man's thirsty, it's suitable for a wash when a man's filthy, and it's ideal for bathing the god's images with...

Such notions are altogether compatible with some of the values and virtues ascribed to both the figure of the nityasumangali and the ganikalveshya in the socio-social systems of pre-frontier India (Banerjee, 1998; Bhattacharji, 2001; Kersenboom, 1998: 197). Chandri's self-picture is a half and half of conventional reasoning. At any rate as far as she could tell, she is someone who combines the

original figures of the nityasumangali and courtesan/court artist thus inherits the sacral and secular symbologies that crystallize around their sexuality. This accounts not just for her unashamed commitment to, and expertise in matters of shringara (esthetic and suggestive state of mind and arts), yet in addition her striking versatility, activity as well as the reasonable sense of happiness and self-worth in the novel.

The degree to which the customary functions as the very substance and breaking point of Chandri's subjectivity can be additionally glimpsed in the tenor of her thoughts and actions. For instance, in the beginning of their living together, Chandri had attempted to dissuade

Her groping hand felt the open door. 'Ayyo O God, hope no fox or dog has entered the house and done things to the body....'. She felt distressed, forgot her fears, went in swiftly ... and lit the lantern. A horrid stench. Dead rotting rats. She was grief-stricken that she'd left the body orphaned, unprotected, the shape of the man who'd offended the whole *agrahara* for her sake... Only one thought burned clear: it's rotting there that thing it's stinking there, its belly swollen. That's not her lover, Naranappa. It's neither brahmin nor shudra. A carcass.

'Love' is the prime mover in this case. It is the effect of the physical body of a friend or family member become grotesque, and the shocking contrast that provides, instead of the impact of any metaphysical Truth become obvious, as Paranjape (2002) would have it, which is the spur for Chandri's activity here.

Hypocrisy and Religion

As for her one-night stand with Praneshacharya, 'gain' intermixed with compassion clarify Chandri's actions in that instance. From one perspective, her musings about how Praneshacharya glows, 'how quiet he was,' and 'what a radiance around him' are interspersed with certified commiseration for his sexually denied life (Murthy, 1999: 46). Then again, considering him, she throbs with a longing encouraged by the memory of her mom's words that 'prostitutes should get pregnant by...holy men' (Murthy, 1999: 46). In coupling with Praneshacharya, 'there was also an expectation in her that his touch may prove to be fruitful in her body. Furthermore, gratefulness that she also may have earned legitimacy' (Murthy, 1999: 67).

Upper-caste women's labor and sexuality

If the realist sections of *Samskara* erase upper-caste women's employment and sexuality, the existential parts could be read as deleting the prostitute's claim to subjectivity throughout.... Chandri is portrayed without any sense of artistic talent (in singing and dancing) usually associated with her class. The existential text fails to provide any viable subject positions for a woman. The attempt at portraying interiority in a male subject does not suggest the possibility of any interiority, for a woman.

Sexual Discrimination

Samskara'fails to give any suitable subject positions to lady' not because it discriminates against them socially or sexually, as Natarajan asserts, but since it nullifies them spiritually. For, as Ramanujan notes (Introduction in Murthy, 1999: viii), 'Samskara is a religious novella' that in structure and substance 'takes its title seriously.' Ultimately, it is the presence or absence and nature of consciousness that decides an incentive in *Samskara*. While the Brahmin ladies of Durvasapura are shown to be ethically drained or sick, the lower-caste ladies are depicted as morally blameless. Both are thus anticipated as coming up short on that transcendent consciousness which the

novel deems essential to crafted by any genuine transformation.?.

The central cause of contention, as in reality the force for it, derives from the contradictory truth-claims of these two ideologies about human instinct and reality. For, the previous perceives man as an essentially spiritual-moral element and posits a virtuous lifestyle as the perfect, whereas the last regards him as a sensory being and deems an existence of material satisfaction as credible and commendable. Most of the Brahmin inhabitants of Durvasapura, symbolizing types of unnatural desire, together with the various lower-caste characters, standing for normal desire, just capacity as conditions of possibility against, through and in which this discussion unfolds. Chandri's job in the novel is subject, eventually, to such bigger orderings. While she is certainly celebrated as a perfect of normal fertility, to the degree that her life is regarded instinctive, Chandri remains a representation of unconscious' essentialness. As Prakriti, regardless of how well kindly she performs her role, Chandri can't represent salvation in a story that privileges Purusha and kaivalyam. Helter-skelter is destined to be the means of keeping that in mind.

Gender Perspective

From a gender perspective, Chandri's characterisation is especially disappointing because it can't be contended into a reasonable materialist subjectivity of strengthening for ladies. In spite of the fact that Chandri is reasonably upbeat and reasonably well ready to deal with herself, neither her optimism nor her drive translates into an empowering proposition for ladies by and large. One reason for this is Chandri is not lady recognized.

As indicated by Chandri, she is 'ever-auspicious, every day married, the one without widowhood' (Murthy, 1999: 44), the descriptive phrases not discrete and accretive in their significance but rather commonly fungible. Indeed, even separated from the ideological legerdemain sustained through this term, is alarming that in social practice, a (Nitya) sumangali can be lifted up just by the simultaneous corruption of the nonsumangali, all the more specifically, the widow. Chandri's easy acknowledgment of her position, as well as the constrained organization and versatility it wins her, bespeaks a merry numbness of these appalling dynamics which pits lady against lady in a see-saw balance turning on male-regularizing needs. Since Chandri never tries to surpass the social brief of her inscription and, for instance, recover the

additionally engaging linguistic senses of the term, a valorization of the perfect as it occurs here does nothing for ladies such as Lakshmidēviāmma, the 'Evil Omen.' Moreover, it secures for different wives a provisional, obtained open respect. Chandri's obvious and socially scripted dynamism thus fronts a profound seated passivity to male centric systems that keep her from offering any ideologically or for all intents and purposes freeing option in contrast to ladies. In the last analysis, she proves unconvincing as a symbol or boss of a progressive or even accommodating gender ethic.

There is, in any case, another elucidation that is possible. Without raising doubt about the general anagogical premise of the novel, this finds occasional points of disconnect among account and protagonist viewpoints. It is sourced in the exhausted figure of Bhagirathi and serves as a useful supplement—if not necessary remedial—to the fairly hopeless perspective on Samskara's gender politics expounded previously.

Consider, for instance, the matter of Bhagirathi's name. Character names are significant in Samskara as codes that surface story meaning (Pillai, 2011). Bhagirathi is another name of the Ganges, the most sacred stream of India (Monier-

Williams, 2005 [1899]: 751). One legend has it that King Bhagiratha performed severe austerities to appease Goddess Ganga so that the heavenly stream would consent to stream on earth. For, just in case of the sacred waters washing over the ashes of his accursed ancestors could their souls discover last freedom. Gangavātaraṇa (the descent of the Ganges) is a full episode and many-versioned (see, for instance, Vanita, 2005). Two features of the waterway that are a staple of the composite fantasy bear review here. First, that Ganga is a stream of life and salvation, her waters nurturing, freeing (Eck, 1998: 137). Second, that she is plentiful, a plenteous stream and power of essentialness not to be immediately exhausted or stemmed. In Samskara, this sets up an evident extremity of meanings that add some substance to Bhagirathi's bareboned characterization).

Likewise, Bhagirathi's temperament, as outlined in the content, deserves consideration. Much is made in the novel of Prāneshacharya's compassionate disposition. In contrast, Bhagirathi's generous disposition finds almost no positive notice. However, even the couple of scenes she plays out in Samskara are sufficient to suggest she is without a doubt a 'decent lady.' So much so that it becomes

feasible to posit a sort of parallelism among Bhagirathi and Praneshacharya: just as the last is the best specimen of customary brahmin masculinity in Durvasapura, Bhagirathi represents the best of traditional Brahmin womanhood.

Representation of Bhagirathi

Together, these factors permit Bhagirathi to be important at two levels, the two of which qualify Praneshacharya's account of Self-acknowledgment in urgent ways. From one perspective, she is significant at a symbolic plane of expression, and, on the other, inside a realist casing of reference.

Symbolically, Bhagirathi represents precisely that 'ontic sap' (Panikkar, 2002: 45) around which, to preserve which, traditions appear, yet which the ossified parampara (convention and genealogy) of Durvasapura and, by extension, the furious, ascetic shastraic culture it is lord to, has rendered invalid as well as discredited. In the Durvasapura inhabitants, people the same, the liquid life-guideline has evaporated, solidified and split off into a contradictory dualism of spirit and matter. The various pathologies of the constitution, physical, natural, psychological, social, and spiritual, the display can be perused as the

aftermath, truth is told, of this divisive petrification.

Consider, for instance, the specificities of Bhagirathi's illness. As per the novel, Bhagirathi is an inherently sick lady who is confined to bed and unequipped for sexual intercourse. As such, physically, she detests the use of her limbs and sexually, it is impossible for her to follow up on her desires regardless of whether she has any. Essentially, this renders her both absolutely reliant on Praneshacharya and chaste past the possibility of a lapse. Precisely the means and ends in any event one ancient 'law giver' deems obligatory to keep the amantravat (without access to the Vedas, consequently spiritually oblivious), nirindriya (without self-restraint) female from understanding her svabhavik (intrinsic) propensities and imperiling the focal decree of varnashramadharma, in particular caste virtue and the man centric proprietorship that it secures. Like an incessant invalid, Bhagirathi embodies the physical crippling that is the social legacy of a 'decent' Brahmin lady by courtesy of the Manavadharmashastra. Her sickness represents a symptom of the more profound malaise at the center of varnashramadharma, in particular, the invalidation of ladies as autonomous spiritual subjects. This invalidation not just

condemns ladies to essential materiality in a dualist worldview where the transcendent consciousness is all things considered (or, in a non-dualist model where the transcendent consciousness is higgledy piggedly gendered male/masculine) yet additionally sanctions the instrumental use of ladies to serve various male purposes. In the novel, such uneven utilitarianism finds adequate appearance in Praneshacharya's decision of Bhagirathi as his better half as well as his persistent blindness to her subsequently in any way other than the field of his spiritual work, the special stepped area of his sacrifice. For, if the previous reveals how the material (especially sexual) debility of ladies is seen to be obviously suited for the spiritual progression of the man, at that point the last shows how ladies are structurally consigned to the capacity of the 'self-consolidating other' (Spivak, 2006), where the 'self' is by definition male.

Happening a little past mid-purpose of the novel in an agrahara deserted yet for Praneshacharya, the plague-ridden rats and birds of remains, the scream in question issues from Bhagirathi's fever-flushed body as whenever wrung out by the fixing hold of death. As per the content (Murthy, 1999: 85–6) describing her perishing

moments as well as its prompt outcome, Praneshacharya is distraught that he had disregarded his sick spouse this while. In dread, he lit the light and called to her. 'Look here, look here! No answer. The silence seemed to yell. In any case, suddenly, his significant other let out a shriek that left him speechless.

Self Realisation

Obviously, Praneshacharya's standpoint dominates the above representation. To him, Bhagirathi's cry is discombobulating just incidentally. As an articulation imparting a sense of some unnamable ghastliness, it soon dissolves and is washed away in the cleansing gush of his tears. Praneshacharya even retroactively co-opts the agony filled pathos of Bhagirathi's scream into the life story of his self by perusing her 'consuming body' as his 'life's retribution going up in smoke. Nevertheless, it is possible to follow the contours of another perspective inserted in the printed description of the episode, which Praneshacharya remains oblivious to at considerable loss to himself and his objective of Self-acknowledgment.

What accounts for the distinction in his frame of mind is that meanwhile, Praneshacharya has had his spontaneous tryst with Chandri in the forest. As a

result, '[f]or the first run through his eyes were starting to see the delightful and the appalling. He had not so far desired any of the excellence he'd read about in the classics...Now he needed for himself a share of all that' (Murthy, 1999: 76-7). Characteristically, while checking on "25 years of specialist quiet relations, of friendship and compassion from this new vantage point, 'he...see[s] an abyss' (Murthy, 1999: 75), however just from his perspective: 'his messed up spouse's hollowed eyes' stay 'helpless visionless symbols of his self-sacrifice and obligation as a householder' (Murthy, 1999:75). However, it seems profoundly far-fetched that Bhagirathi would not get on his changed disposition. To be sure, it is the dispute here that her scream, as also the orderly distemper, is an immediate expression of her adjusted recognition. What follows is an expansive parentage of Bhagirathi's cry. While speculative, it is also grounded in the account and falling sufficiently inside the bounds of plausibility to be offered as a certain unsaid of the content.

Praneshacharya instinctively senses some of this reality. That is the reason he describes Bhagirathi's scream as a 'flash of lightning.' But he can't grasp its full significance, unfit to look up to its full

implications. As a result, he is just alarmed by it and slips directly again into darkness, the darkness of obliviousness, trickery, misleading statements, and hopelessness he so wants to be liberated from. In reality, the entirety of Praneshacharya's actions from there on, from the distracted search for Chandri to his silly dread of Naranappa's dead body and the goblins in obscurity, from the solipsistic spin he gives to Bhagirathi's demise to the adventure of Self-acknowledgment he sets out on underscoring his disturbed condition. At the same time that they are attempts at keeping the darkness under control, they also have at their middle the avidya that he accidentally clings to when he misrecognizes Bhagirathi's scream.

The subtext of Samskara followed above suggests how till such time as Praneshacharya continues unconscious in his self-misleading blindness, every one of his moves towards acknowledged being, regardless of how seemingly propelled, will stay short-circuited from inside. It makes the survival and soundness of 'Bhagirathi' at the material and symbolic plane, vital to individual and social prosperity, which subjects, be they, men or ladies, disregard to their drawback. Bhagirathi's exhausted condition and ineffectiveness demonstrate similarly the

requirement for the nature of compassion and for the compassionate to be assertive and self-deciding, instead of reliant and self-denying.

Conclusion

This article has sought to explain the politics and possibilities of gender coding in U.R. Anantha Murthy's *Samskara*. Its intercession has basically fixated on the mobilizations of meanings around two female figures in the novel, Chandri, and Bhagirathi. The resultant double perspective of *Samskara* is important for acknowledging not just the social nuances in the novel's coding of gender relations yet in addition its commitment with questions of significant individual and social transformation.

The caste pecking order in India has been a questioning issue identified with the dynamics of intensity and authority. The individuals found high in the social chain of importance have moved throughout the years to hold their supremacy in the social area by appropriating the sources of information, truth, theories, ideologies and discourses that have been basically responsible for the underestimation of the low caste individuals. In the ongoing past, there has been a spurious rise in the multifaceted, discourses of minimized and

subaltern groups of the tribals, Dalits and the ladies contesting the supremacy and mastery of the high caste from one viewpoint, and offering the counter-standard on the other.

The focal topic of the novel is the demise of Naranappa and the complications associated with the issue of his entombment. Naranappa was an enemy of Brahminical Brahmin who spent for his entire life in opposing Brahmin beliefs and lifestyles. He brought a lower-caste prostitute to the *agarahara* and lived with her in his house. He even welcomed Muslim friends to the *agarahara* and straightforwardly consumed liquor and non-vegan nourishment so as to insult different Brahmins.

When Naranappa kicked the bucket, his entombment turned into a convoluted issue. At the same time, they needed the memorial service to be over as soon as possible because they were not allowed to eat or drink anything while a Brahmin corpse anticipated incineration in the *agarahara*. At long last, they left the issue to Praneshacharya, who was the leader of the town.

Praneshacharya searched all the heavenly books to discover a solution to this issue. Chandri, the courtesan of Naranappa,

submitted every one of her jewels at his feet to meet the expenses of the entombment rites. This demonstration of Chandri further muddled the issue because every one of the Brahmins suddenly turned ravenous on seeing such a huge amount of gold. Presently they all needed to do the rites so as to get the gold. Praneshacharya became apprehensive that the affection for gold may degenerate the entire agrahara.

Praneshacharya couldn't discover a solution to the quandary of the entombment issue significantly in the wake of consulting Manu and other sacred texts. So he went to the Hanuman sanctuary and appealed to God for some celestial bearing. However, the monkey-God refused to illuminate him in any capacity. While he was coming back from the Hanuman sanctuary, Chandri enticed him in the darkness. He tumbled to the enticement and had intercourse to her without further ado.

The sexual relationship with Chandri completely transformed Praneshacharya. He felt that he never again had any ethical right to proceed as the spiritual chief of the agrahara. So he refused to coordinate the Brahmins in the issue of the internment.

Chandri got desperate, and she moved toward the lower caste individuals to do

the internment. Be that as it may, they refused "to interfere with a Brahmin corpse regardless of whether she gave them every one of the eight kinds of riches." Finally, she went to the Muslim section and argued to Ahmed Bari, the fish trader. Ahmed Bari acknowledged the demand and secretly incinerated the dead body at 12 PM.

Chandri sobbed for her dead sweetheart and came back to Kundapura, her local town.

From such a double perspective it tends to be contended that Samskara emerges as a book that suggests three significant points: (a) how individual prosperity and sympathy are inseparable; (b) how understanding is possible among institutionally valorized 'selves' just when they perceive in their goodness, desire, respectability, power, and accomplishments not just the proof of their natural gunas (as does Praneshacharya), yet the work, sacrifice, dissolution, and emasculation of institutionally othered selves; and (c) how institutionally buttressed selves notwithstanding securing the Self in the other must start to acknowledge the other in the Self on the off chance that they are to accomplish any important individual or social change.

References

1. Aikant, Satish C. "Burden of the Past: U. R. Anantha Murthy's Samskara" Summerhill Review. XVII. I. Shimla: HAS, Summer 2011. Print.
2. Ananthamurthy, U. R. Samskara: A Rite for a Dead Man. Trans. A. K. Ramanujan. 1978. New Delhi: OUP, 1989. Print.
3. Beauvoir, Simone de. The Second Sex. 1969. Trans, and Ed. by H. M. Parshley. London: Vintage, 1997. Print.
4. Gupta, R. K. "The Ghost and the Demon: An Approach to U. R. Ananthamurthy's Samskara." Journal of Commonwealth Literature. 1981. Print.
5. Khanna, Madhu (2002) 'The Goddess-Woman Equation in SakraTantras.' In Durre Sl. Ahmed (ed.) *Gendering the Spirit: Women, Religion & the Post-Colonial Response* (pp. 35-59). London. Zed Books.
6. Sharma, I. D. "Quest Motif in U. R. Ananthamurthy's Samskara: A Thematic Study." Indian English Poetry and Fiction. Ed. N. R. Gopal and Suman Sachar. New Delhi: Atlantic, 2000. Print.
7. Sharma, T.R.S. (2005) 'Renegotiating Identity in Samskara.' In Kailash C. Baral, D. Venkat Rao and Sura P. Rath (eds.) *Samskara: A Critical Reader* (pp. 128-34). Delhi: Pencraft International
8. Smith, Frederick M. (1992) 'Indra's Curse, Varuna's Noose.' In Julia Leslie (ed.) *Roles and Rituals for Hindu Women* (pp. 17-45). Delhi, Motilal Banarsidass.
9. Spivak, Gayatri Chakravorty (2006) 'World Systems & the Creole', *Narrative*, 14 (1): 102-12. Vanita, Ruth (2005) *Gandhi's Tiger and Sita's Smile: Essays on Gender, Sexuality, and Culture*. New Delhi, Yoda Press.

जैन विश्वभारती संस्थान

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 की धारा 3 के अन्तर्गत घोषित मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE

(Declared as Deemed-to-be University under Section 3 of the UGC Act, 1956)

LADNUN- 341 306 , RAJASTHAN, INDIA



DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

बी.ए. प्रथम वर्ष

विषय - सामान्य हिन्दी

For E-learning Videos please visit : www.jvbionline.com

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ - 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



बी.ए. प्रथम वर्ष

विषय - सामान्य हिन्दी

Expert Committee

Sr. No.	Name	Designation	Organization
1.	Prof. Sambhu Nath Tiwari	Professor	Dept. of Hindi, Aligarh Muslim University, Aligarh
2.	Prof. Vedprakash Sharma	Retd. Professor	Maharaja Ganga Singh University, Bikaner (Rajasthan)
3.	Prof. Jagmal Singh	Retd. Professor	Dept. of Hindi, Meghalaya University, Meghalaya (Asam)
4.	Prof. Anand Prakash Tripathi	Professor	Dept. of Hindi, Dr. Hari Singh Gaur University, Sagar (M.P.)
5.	Dr. Narendra Mishra	Associate Professor	Dept. of Hindi, Jai Narayan Vyas University, Jodhpur

ISBN No : 978-93-83634-52-1

लेखक

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू 341306 (राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 3000

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :

M/s Shree Vardhman Press, Delhi

RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-7



अंक-03



त्रैमासिक



जुलाई-सितम्बर, 2019

A Peer Reviewed Research Quarterly

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	जैनागम में कला : स्वरूप संघारण	प्रो. हरिशंकर पाण्डेय	06-13
02.	“यज्ञ का मानसिक स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव”	डॉ. साधना दौनेरिया, मनीषा इंदोरे	14-16
03.	जैन ग्रंथों में आर्थिक विचार	डॉ. दिलीप धींग	17-21
04.	गान्धी का मानवाधिकार दर्शन	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	22-25
05.	आचार्य “महाप्रज्ञ की काव्यात्मक अनुभूतियों में जीवन दर्शन”	प्रो. (डॉ.) अनेकान्त कुमार जैन	26-30
06.	श्रीमद्भगवद्गीता में अपरिग्रह	पुलकित मुनि	31-35
07.	द्रव्य और गुण का भेदाभेद	अरविन्द दोशी	36-41
08.	Flip Education Strategies: An Innovative Paradigm shift in the Approach of Teaching	Dr. Bhabagrahi Pradhan	42-46
09.	Importance of Value - oriented Education: Great Educational Thinkers	Dr. Vishnu Kumar, Sh. Jay Prakash Singh	47-52
10.	The Torments of Partition as Narrated in <i>Train to Pakistan</i>	Sunita Sharma	53-58

Importance of Value - oriented Education: Great Educational Thinkers

Dr. Vishnu Kumar, Sh. Jay Prakash Singh

Abstract

In the present era of liberalization, privatization and Globalization, value crisis is a serious concern to the nation which is deepening day by day with the rapid advancement in knowledge, science and technology on the one hand and constant deterioration of value on the other. The problem of value education is gaining predominance in educational discussions during the recent time. Hence the Emphasizes is on values in education. Unless the values in education aspect is not taken care of the malady that exists in education will never be eliminated. Education institutes should focus on value in education for development of a knowledge bases society, so that quality education will bring more accolades to their students and the institutes themselves. This will ensure that students grow in both mind and heart, and learn the special virtues of life. Without realizing the value of education one cannot lead a meaningfully satisfied educated life.

Key Words : Liberalization, Privatization, Globalization, Cohesive, Education, Value, Classification, Pragmatic, Justice, Liberty, Equality

Meaning of Value-Education

The very purpose and main function of education is the development of an all round and well-balanced personality of the students,

and also to develop all dimensions of the human intellect so that our children can help to make our nation more democratic, cohesive, socially responsible, culturally rich and intellectually competitive nation. But, nowadays, more emphasis is unduly laid on knowledge-based and information-oriented education which takes care of only the intellectual development of the child. Consequently, the other aspect of their personality like physical, emotional, social and spiritual are not properly developed in providing for the growth of attitudes, habits, values, skills and interest among the pupils. It is here that we talk in terms of value-education. A complete description of what value-education is could entail a study in itself. There are corroborating findings, by many researchers. After analyzing and studying the description (about value-education) of such researchers the definition of value-education may be stated as follows:

Value-education is a many sided Endeavour and in an activity during which young people are assisted by adults or older people in schools, family homes, clubs and religious and other organizations, to make explicit those underlying their own attitudes, to assess the effectiveness of these values for their own and others long term well-being and to reflect on an acquire other values which are more effective for long term well-being. Value-education is thus concerned to make morality a living concern for students. Hence, what is needed is value-education. Despite many educators and educationists description regarding value-education, it cannot be denied that continuing research will continue to make the description of value-education more adequate.

According to C.V. Good : "Value-education is the aggregate of all the process by means of which a person develops abilities, attitudes and other forms of behavior of the

positive values in the society in which he lives."

Objectives of Value-Education

Traditionally the objectives of value-education were based on religion and philosophy. There was no secular value-education; but in today's modern world, this has been taken as very much essential.

1. Full development of child's personality in its physical, mental, emotional and spiritual aspects,
2. Inculcation of good manners and of responsible and cooperative citizenship.
3. Developing respect for the dignity of individual and society.
4. Inculcation of a spirit of patriotism and national integration.
5. Developing a democratic way of thinking and living.
6. Developing tolerance towards and understanding of different religious faiths.
7. Developing sense of brotherhood at social, national and international levels.
8. Helping pupils to have faith in them and in some supernatural power that, is supposed to control this universe and human life.
9. Enabling pupils to make decisions on the basis of sound moral principles.
10. Evolving the evaluation criteria on value-education.
11. Suggesting measures for better utilization of value-education.
12. Finding out the interests of pupils in relation to different aspects and activities of value-education.
13. Clarifying the meaning and concept of value-education.

Classification of values

Values can be categorized in different ways under different categories. For example, they can be either intrinsic or instrumental, depending

on whether they desire for their own sake or are meant to be means to achieve something. Values can also be classified as moral and aesthetic, positive or negative, higher or lower, Theoretical, economic, aesthetic, social, political and religious. Overall we can classify values as written below-

1. Universal Values: Values are numerous and may be classified as external or internal, or subjective or objective. Plato classified values as absolute values and instrumental (pragmatic) values. The ancient Indian values may be called universal (absolute) values such as Sat, Chit and Ananda. It tallies with the great trinity of western value truth, beauty and goodness, though there are some differences in them. Sat (to be) in Indian philosophy means both truth and goodness. Goodness is considered as the practical realization of sat, while truth is both intellectual and spiritual. Ananda is profound bliss or happiness. Chit is pure consciousness or reason. These values exist independent of men. Some of the fundamental values practiced by students during their studentship at the guru's house in ancient times were abnegation, strict discipline, implicit obedience, hard work, morality, pursuit of truth, simplicity, spiritual thinking, respecting dignity of labour, tolerance, and so on.

2. Moral and Spiritual Values: These values are absolute and irrespective of the country or time they exist as categorical imperative of human behavior. Moral values deal with perceptions of right and wrong. Indian philosophy names dharma (religion), artha (money), Kama (pleasure) and Moksha (liberation) as the ultimate values. If a person considers an object divine, it is said to have a religious values and its experience is called religious experience which may be spiritual or divine.

3. Pragmatic Values: Besides these universal values, some values are instrumental or pragmatic. They are not static. These values are liable to change. They are specific to time and place. They are reflected in language, ethics, social-hierarchy, aesthetic, law, economics and social institutions of every kind. They still serve us and help us to fix our goals of life because; they are pragmatic anchors of our life.

4. Biological Value: Biological values may be described as primarily important for preservation of life. Health, hygiene, concepts of nutrition, knowledge of one's body, knowledge of disease and their prevention will come in this category. The natural biologists hold this as the most important ideal of life and till date curriculum planners place this health aim as the foremost aim of pre and primary schools.

5. Economic Value: Economic value means that an object commands a money price. People value money or material things not for their own sake but for the pleasure and enjoyment that they provide. Economic values are instrumental rather than intrinsic; they are values of commodities in exchange and arise out of production and use of material goods. Kothari commission Report (1964-1966) rightly pointed out that if our country has to find a place in the committee of nations, it has to be economically advanced. So right from the beginning of schooling to higher education, the importance and usefulness of money, its power and pitfalls would have to be stressed.

6. Political value: Political values represent interest in political matters. As a Sovereign democratic republic, the Indian constitution seeks to secure to all its citizens the following values, which should be respected by everybody. This are-

- Justice - social, economic and political

- Liberty of - thought, expression, belief, faith and worship
- Equality of - Status and opportunity

Every student should be made aware of these values. Hence, training for democracy is an unfailing obligation that the education institutes will have to bear.

7. Social and cultural values: The right values for a democratic citizenship, cooperation, tolerance, leadership, friendship, refinement of spirit, awareness of India's great cultural heritage are interactive lesson that they must learn. The society demands conformity to some actions and attitudes, and he must fulfill these callings. One gets social values from friendship, love, family and participation in good activities.

8. Aesthetic Values: Aesthetic values refer to the experience that a person has when he perceives an object as beautiful or conversely, ugly. The aesthetic experience is a special kind of experience and is an interaction between an object and a subject. The subject that is the person contributes sense organs and also depends on his past experiences for appreciation or dislike of objects.

Need for the Inculcation of Value-Education

Again and again, like a boomeranged, the question that bursts out is "where have the values gone?" While making an attempt for answering this question, one notices conscious and conspicuous shifts in the latter-day educational philosophy from a cognitive to kinetic development of the pupil. A wide range of values of moral, aesthetic and social nature that have evolved during the marathon march of the human civilization is posing before us a crisis of priorities: which of these values are to be cultivated and what is the appropriate stage of doing so?

Hence, the issue becomes more

jumbled when it comes to fixing up of the responsibilities: who is to inculcate values? - parents, leaders, the affluent, the business tycoons, thinkers, artists, teachers? The easy and obvious answer is-"the teacher is the prime inculcator of values because the young are under his or her formal care." Whatever may be the answer! Really speaking, it is not enough just to know about values, because values have to be practiced. Our country is undergoing radical, social changes. So, the students who are the future citizens of tomorrow have to be oriented to respond to and adjust with these social changes satisfactorily by equipping them with desirable skills and values.

The Modern India has committed to the guiding principles of socialism, secularism, democracy, national integration and so on. These guiding principles should be emphasized in the educational system and suitable value; are to be included in the students for promoting equality, social justice, national cohesion and democratic citizenship. With these aims in view, radical reforms in the present lop-sided education are to be introduced and all attempts need to be made for developing well-integrated personalities for our individuals. Hence the need for inculcating desirable values. India is known for its rich cultural and spiritual heritage, and the need for a value-system through education has been felt and recognized through centuries. Value system play an important role in any decision making process. In fact, every human action is the reflection of personal and social values. Modern age of science and technology has created many evils. Violence, immorality, egoism, self-centeredness, frustration are rampant everywhere. The world has already experienced the horrors of modern wars during World War I and II.

It has been the victim of passions and

evils like violence, jealousy, national superiority and arrogance. That is why, in spite of wonderful, scientific achievements the world is a place of violence, gloom and unease. In the midst of material prosperity, a large section of humanity is under the grip of immorality, poverty and corruption. Thus, man has been the monarch of entire world. Now, such unsatisfactory situations have arisen due to crises of values. The above discussion stresses again and again the importance of the need of value-education. Value-education involves exposing students to a whole series of values in their complete totality. I help to bring about an improvement in the child's thoughts, ideas attitudes, interests, emotions, sentiments, personality and character. Really speaking, value-education influences all aspects of a person's growth and development. Thus, value-education consequently, is an integral part of education which cannot be separated from the educational process. Value-education has to be placed, therefore, at the centre of the education Endeavour.

Schools should be induced to create a climate of value which should run various activities and would be conducive to the promotion of values among students, teachers, parents and educational administrators. Programmes of value-education should incorporate values of integral personality in all its dimensions-physical, vital, intellectual, aesthetic, ethical and spiritual. The question now jumps up-how exactly the implementation of such value-education could be done in schools and what are the various activities to be undertaken in different classes? The process of valuing is what we go through when we make judgment about things, events and people that we encounter in our day-to-day life.

Our country of tomorrow is going to be what the young pupils at school, college and university

today will make it. Value orientation of modern educational practice is the need of the moment. "One of the major crises facing education in India is that of value orientation. It has been usually argued that the main focus during the last three decades has been on qualitative expansion and consequently adequate attention could not be paid to maintaining standards and quality of education. The output of educational system is not only of poor quality but degradation of the moral values has been noticed." The importance of value education has been pointed out time and again by great educational thinkers. Some of the views are given below:

Mahatma Gandhi's view: Value-oriented education is essentially education for self realization. Mahatma Gandhi wanted that education should be for the hand, head and heart. Education for the heart is the spiritual training for him. According to him the aim of education is self realization the summum bonum of life and education.

Rabindranath Tagore's view: Rabindranath Tagore was primarily an educationist rather than a political thinker. He put emphasis on 'naturalism' for framing educational model. In education, freedom is the basic guiding force for inculcating interest within students who will derive inspiration from nature to pursue any branch of knowledge he likes. The establishment of Shantiniketan fulfilled the desired goal of Tagore in the educational front.

Acharya Mahaprajana's view: Value oriented techniques are the backbone of science of living. The moral and spiritual values to be inculcated in the learner through the practice of Anupreksha or bhavana are: Sense of duty, Self-dependence, Truthfulness, Reconciliation, Freedom from fanaticism Human equality, Co-existence, Patriotism, Mental equilibrium, Patience, Honesty, Compassion, Freedom from

lust, Forbearance, Modesty, Freedom from conceit, Freedom from fear, Self-discipline, Will Power etc.

Dayanand's view: "Swami Dayanand laid emphasis on the role and responsibility of parents in the scheme of value education. According to him it is the duty of parents to give instructions in value to their children which draws injunctions from the tradition of ancient Indian education."

Sri Aurobindo's view: According to Sri Aurobindo, "Value oriented education is education for spiritual values. Such an education has two levels. At the lower level, all should be educated in higher values. At the higher level, only those who can pursue the spiritual values should be given spiritual education."

Vivekananda's view: Swami Vivekananda gave a broader view of value-oriented education. He said, "We want the education by which character is formed, strength of mind is increased, the intellect expanded and by which one can stand on one's feet."

Radhakrishnan's view: Dr. Radhakrishna says, "Education is not limited to the imparting of information or training in skills. It has to give the educated a proper sense of value." Thus value-oriented education is a tool with the help of which an individual can chisel his own statue.

Jiddu Krishnamurti's view: To me, then, true criticism consists in trying to find out the intrinsic worth of the thing itself, and not in attributing a quality to that thing. You attribute a quality to an environment, to an experience, only when you want to derive something from it, when you want to gain or to have power or happiness. Now this destroys true criticism. Your desire is perverted through attributing values, and therefore you cannot see clearly. Instead of trying to see the flower in its original and entire beauty, you look at it through coloured glasses, and therefore you can never see it as it is.

Abdul Kalam's view: Dr. A.P.J. Abdul Kalam focus of the education and schools must provide mission oriented learning with value system. ... Education which is imparted in childhood at the every stage of development of minds is more important than the education received in college and university.

References :

1. Gupta, S. & Singh, A (2008), Value Based Education, Dimension and Directions, Punjab: Desh Bhagat Group of Institutes.
2. Ghosh, S. (2009), Education in emerging Indian Society, the challenges and Issues, New Delhi: PHI learning Private Limited.
3. Joshi, K. (2002, January), Philosophy of value-oriented Education Theory & Practice, New Delhi: Indian Council of Philosophical Research.
4. Pandey, R.S., Major Philosophies of Education, An Introduction, Agra-2, Vinod Pustak Mandir.
5. Singh, Y.K. & Nath, R. (2005), Value Education, New Delhi: A.P.H. Publishing Corporation.
6. Supreka, D. Ahrens, C. & Hedstrom, (1976), Values education sourcebook, Boulder, Co: Social Science Education Consortium.
7. Thakur, A.K. & Patel, M. (2010), Challenges of Education in 21st century, New Delhi: Deep & Deep Publication Pvt. Ltd.
8. Venkataiah, N., Value Education, New Delhi: A.P.H. Publishing Corporation.

Website

1. <https://jainworld.com/philosophy/others/science-of-living-jeewan-vigyan/value-education-through-anupreksha-and-bhavana/>
2. https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/128636/12/12_chapter%205.pdf
3. https://www.lazquotes.com/author/8281-Jiddu_Krishnamurti

Assistant Professor
Department of Education
JVBI, Ladnun (Rajasthan)

Research scholar
Department of Education
JVBI, Ladnun (Rajasthan)

Environmental Protection and Social Work Profession

Editors

Dr Bijendr Pradhan

Dr Pushpa Mishra

Mr Ankit Sharma

Dr Vikas Sharma



Environmental Protection and Social Work Profession

[Proceeding with full Paper]



Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun (Rajasthan)



**Indian Council of
Social Science Research**

**Indian Council for Social
Science Research (ICSSR),
Delhi**

Editors

Dr. Bijendr Pradhan
(Head and Associate Professor)

Mr. Ankit Sharma
(Assistant Professor)

Dr. Pushpa Mishra
(Assistant Professor)

Dr. Vikas Sharma
(Assistant Professor)

Co-editors

Mr. Ranjit Kumar Jaiswal
(Research Scholar)

Mr. Indra Ram Poonia
(Research Scholar)



Department of Social Work
Jain Vishva Bharati Institute
(Deemed University)
Ladnun 341306 (Rajasthan)

Environmental Protection and Social Work Profession
[Edited Book]

ISBN: 978-93-83634-45-3

© **Editing Team -2019**

Editors: Dr. Bijendr Pradhan, Dr. Pushpa Mishra

Mr. Ankit Sharma, Dr. Vikas Sharma

Co-editors: Mr. Ranjit Kumar Jaiswal Mr. Indra Ram Poonia

First Edition: March, 2019

Price: 350/-

Published by: Department of Social Work
Jain Vishva Bharati Institute,
Ladnun-341306 (Rajasthan)

Printed by:

No part of this book may be reproduced or transmitted any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopying, recording or by any information storage and retrieval system, without permission in writing from the publishers.

Cover Page Photo Credits:

https://www.instagram.com/p/BtTV1koHYVX/?utm_source=ig_share_sheet&igshid=1svv9176cp9a

Table of Contents

Sl. No.	Title	Name	Page No.
	Key-Note Address Environmental Protection and Social Work	Prof. R.B.S. Verma	15-23
	Environment Protection for Sustainable Development of Communities	Prof. A.N. Singh Dr. Geetanjali Srivastava	24-33
	Education Of Slum Children- Necessary Approach For Sustainable Societal Development	Dr. Pushpa Mishra Mr. Jagpal Singh	34-46
	Environmental Degradation and Social Work Competencies	Dr. Bijendr Pradhan Shashi Kant Srivastava	47-50
	Environmental Conservation Through CSR Case Study of CSR Initiatives of a Public Sector Undertaking	Dr. Ashvini Singh	51-57
	Impact of Plastic on Environment and its Abatement using Social Work Profession	Mr. Ankit Sharma Ms. Silvia Parasher	58-67
	Role of Government and Non-Government Organization in the Environment Protection and in the Development of the Rural India	Dr. Armit Singh Rathore Dr. Chetan Sharma	68-76
	Social Work Profession's and Practice with Environmental Issues	Dr. Veena Dwivedi	77-83
	Environment and Sustainable Development	Dr. Manish Bhatnagar	84-87
	Volunteerism and role of Education for Environment Protection	Dr. Bhabagrahi Pradhan	88-91
	Environment Versus Sustainable Development	Sweety Verma Dr. Rajeev Verma	92-102
	Islamization, Concepts of Environmental Protection and Social Work	Satanyu Mhadstri	103-109
	Environmental Protection in Drought Affected Areas of Rural Rajasthan: A Community Engagement Perspectives	Dandub Palzar Negi Dr. Rajeev VM Abdul Azeez. EP	110-116
	Environmental Education: The Upsurging Need for Mankind	Pravendra Singh Bula Pratishtha Kulshreshtha	117-124
	Role of Jal Saheli and Pam Panchayat for Rural Development of Bundelkhand. A Case Study of Panmarh	Dr. Muhammad Nayim	125-128

16.	Impact of ngo's in Environmental Protection	Jaseemul Farhan KP Harnd Mahsloom K Noorjahan CJ	129-134
17.	Migration Induced by Climate Change: Policies and Actions.	Kasib Ali	135-140
18.	Climate Change . A Global Threat and The Role of Social Worker	Dr. A. K. Bhartiya Samra Anwer	141-149-
19.	Exploring Innovations in Policy for Agriculture Bioinformatics and Cultivation of Scientific and Sustainable Skills in India	Davakar Kumar	150-155
20.	Monoculture and polyculture impacts on biodiversity	Jiya Choudhary	156-162
21.	Environment protection & role of social workers	Gaurav Dixit	163-170
22.	Psychiatric Problems Of Elderly	Ambish Kumar Ra.	171-176

हिन्दी खण्ड

23.	भगवान महावीर का पर्यावरण दर्शन	डॉ. जगदीश चन्द्र प्रसाद	191-194
24.	प्रदूषण एक गम्भीर समस्या	डु. अमरजित उन्ना	195-198
25.	वन संरक्षण में जनजातीय समुदाय की सहभागिता	डॉ. विजय प्रसाद कृष्ण कुमार शिंदरे	199-204
26.	पर्यावरण संरक्षण में समाज कार्य की बढ़तीयों का प्रयोग	डॉ. अमरजित उन्ना	205-210
27.	ई-अपशिष्ट: एक पर्यावरणीय समस्या एवं उसका प्रबन्धन।	डॉ. विजय प्रसाद	211-214
28.	पर्यावरण संरक्षण एवं वैश्विक राजनीति	डॉ. जुगल किशोर दशिय	215-220
29.	पर्यावरण संरक्षण और जन चेतना	डॉ. रविन्द्र सिंह राठीड	221-226
30.	पर्यावरण संरक्षण में पर्यावरण शिक्षा एवं समाजकार्य कर्ता की भूमिका	डॉ. अमर सिंह	227-230
31.	पर्यावरण संरक्षण और अहिंसा	डॉ. हेमलता जोशी	231-234
32.	जैनदर्शन और पर्यावरण-संरक्षण: एक अध्ययन	डॉ. राध्यानाथण भारद्वाज	235-238

1	जनशक्ति केन्द्रित एवं समाज कार्य	रजनीत कुमार जायसवाल	239-244
2	जनशक्ति के लिए शिक्षा - एक सशक्त माध्यम	डॉ. सरोज राय	245-248
3	पर्यावरण में पर्यावरण	डॉ. अशोक भास्कर	249-252
4	पर्यावरण संरक्षण और हमारा विकास जैनधर्म के दृष्टिकोण से	डॉ. योगेश कुमार जैन	253-257
5	जैनेन्द्र जैनेन्द्र शैली, सतत विकास और सामुदायिक व्यवस्था	डॉ. विनोद सिहाग	258-261
6	पर्यावरण संरक्षण संबंधित किंवदंती उपबंध एवं व्यवहारिका की भूमिका	डॉ. अनिल	262-266
7	सतत विकास में निहित पर्यावरण सुरक्षा के सिद्धान्त	डॉ. श्वेता जैन	267-270
8	पर्यावरण सम्बन्धी सर्वोददेशीय मुद्दे एवं संरक्षण हेतु प्रयास	डॉ. बी.एल. जैन डॉ. अमिता जैन	271-274
9	समावेशी सूक्ष्म राष्ट्रीय पर्यावरण नियोजन दशा एव दिशा	इन्द्रा राम पुनिया,	275-277
10	जैन दर्शन के संदर्भ में पर्यावरण संरक्षण व सतत विकास	डॉ. गनीषा जैन	278-282
11	पर्यावरण और यज्ञ	डॉ. निर्मला भास्कर, सहायक आचार्य	283-286
12	पर्यावरण संरक्षण में सतत विकास की भूमिका	जे. पी. सिंह डॉ. विष्णु कुमार	287-289
13	जल-संरक्षण एवं पर्यावरण	राकेश कुमार जैन	290-296

पर्यावरण संरक्षण में सतत् विकास की भूमिका

जय प्रकाश सिंह
शोधार्थी, शिक्षा विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनू (राजस्थान)

डॉ. विष्णु कुमार,
सहायक आचार्य, शिक्षा विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनू (राजस्थान)

सारांश

पिछले कई दशकों से मानव प्रौद्योगिकी विकास के नाम पर अपनी धरती और उसके ससप्तानों को नष्ट कर रहे हैं। अनजाने में अपने जीवन स्तर को ऊपर उठाने के नाम पर और अधिक इसी बाधित करने की ओर अग्रसर हो गये हैं। आज बेहतर जीवन जन्म का प्रयत्न खड़ा हो गया है। मानव में प्रकृति एवं परिस्थिति के अनुसार समन्वय कराने की ज़रूरत है। हमें इसकी एक सीमा है। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद हम पहले ही इसकी सीमा पार कर चुके हैं। हमें अपनी ऊँचाई से ऊबनेवाह ऑक्साइड का अरातुलन होना, अधिक उपज के नाम से अत्यधिक उर्वरक या प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जाना औद्योगिकी के नाम पर खतरनाक अवांशित पदार्थों का प्रयोग एवं विज्ञान सीधे जल में प्रवाहित किया जाना आदि अनगिनत उदाहरण हमारे जीवन में दिखते हैं। हमें जल्द सही समाधान तक नहीं पहुँचा गया है। यदि इस समस्या की तरफ हमने ध्यान नहीं दिया तो हमें जल्द पीड़ी हमें माफ नहीं करेगी। इस विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण संरक्षण में सतत् विकास की दृष्टिकोण शोधक के तहत अपना शोध पत्र प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रस्तावना

आज जो प्रकृति की दुर्दशा हुई है इसके पीछे मानव का ही हाथ है। अगर अब हम लोगो ने इस पर विचार नहीं किया तो आने वाली पीड़ी के लिए दुर्दशा बनने का इस कारण पर्यावरण को सुरक्षित रखना होगा ताकि मानव पृथ्वी पर सदियों तक रह सकें। पर्यावरण संरक्षण में पर्यावरण संरक्षण की वर्तमान स्थिति पर ध्यान देते हैं तो बड़े खतरनाक तत्वों के अभाव में बड़े शहर को देख लीजिए, वहाँ बिजली की आपूर्ति, स्वास्थ्य, पानों की बढ़ती हुई संख्या, अवांशित पदार्थों के प्रचलन आदि बड़ी समस्या बनती जा रही है। साथ ही आगे के विज्ञान के विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। पर्यावरण का संरक्षण करना हमें एक व्यक्ति का नहीं बल्कि सभी व्यक्तियों का नैतिक कर्तव्य होना चाहिए। इसे न सिर्फ प्रत्यक्ष बल्कि अत्यधिक काम से सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। कुछ इस प्रकार से पर्यावरण को संरक्षण प्रदान कर सकते हैं— व्यक्तिगत वाहन के स्थान पर सार्वजनिक वाहन का प्रयोग करने से ध्वनि प्रदूषण कम होगा। प्राकृतिक खाद की जगह लैंगिक खाद के प्रयोग से खेत की उर्वरता हमेशा बनी रहेगी। आवश्यकतानुसार हार्डट गखे, कूलर एवं बिजली के उपकरणों का उपयोग करें इससे ऊर्जा का संरक्षण हो सकेगा। अत्यधिक जल की बर्बादी न करके जैसे— दाढ़ी बनाने समय पानी का नल न खुला छोड़े, गहने धोते समय लॉन्ग नल से पानी न डालें बाल्टी भर कर भाफ करे आदि। पर्यावरण संरक्षण में छोटी-छोटी बातें ही हमें संतुलन तक पहुँचाने में सहायक करेगी।

संक्षेप में कह सकते हैं कि हमें प्रदूषण पर नियंत्रण पानों की रक्षा एवं वन संरक्षण, स्थानिक संसाधनों का संरक्षण, ऊर्जा संरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण आदि के द्वारा पर्यावरण संरक्षण किया जा सकता है।

सतत् विकास

साधारणतः सतत् विकास एक ऐसी विकास की बात करता है जो निरन्तर वृद्धि की की ओर अग्रसर करता है। जैसे— यदि आप एक पंख को कतलकर उपयोग कर रहे हैं तो पंख आप लगायी भी ताकि भाँवेद्य

में पेड़ की उपलब्धता बनी रहे। अतः सतत विकास ऐसे विकास की कल्पना है जिसमें वर्तमान से भविष्य तक हम सभी को मिल सकने वाले साधनों का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग की क्षमता हो। दूसरे शब्दों में, सतत विकास वह विकास है जो भविष्य की पीढ़ी को अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किये बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करता है।

अर्थात् प्राकृतिक साधनों का विप्रेकपूर्ण उपयोग के लिए सुस्थिर/सतत जीवन शैली अपनानी होगी। सुस्थिर जीवन शैली से तात्पर्य स समुचित मात्रा में साधनों की उपलब्धता के अनुसार प्राकृतिक साधनों का प्रयोग, दूरदर्शिता एवं पूरी समझ के साथ करना है।

आज का मानव अपने पर्यावरण का रक्षा एवं गढ़ने वाला हो गया है किन्तु विकास की इस दौड़, व्यापारिकता और भौतिकता ने प्रकृति के साथ बहुत ज्यादा खिलवाड़ की है। इसलिए आज हमें विनम्र रहित विकास की आवश्यकता है। इसके लिए हर स्तर पर नागरिकों और समुदायों तथा सभी संस्थाओं को सार्वजनिक प्रयत्नों में न्यायसंगत भागीदारी निभानी होगी ताकि एक तरह से सकारात्मक सोच विकसित हो सके।

माना कि हमारे कम्ब में महानगरी के गुण आ गये हैं पर फिर भी यह पिछड़ा ही कहा जायेगा। जब तक की सामाजिक पर्यावरण के प्रति संवेत एवं जागरूकता में वृद्धि नहीं कर लेता। जैसे- जनसंख्या वृद्धि नियंत्रण एवं सरसाधनों के सीमित उपयोग पर जागरूकता दिया जाये। शिक्षा प्रणाली में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से सतत विकास को प्रत्येक विषय में शामिल किया जाना चाहिए। अभ्युत्थानवादी संस्कृति पर नियंत्रण एवं सुप्रसन्नतापूर्ण शिक्षा में शाश्वत विकास को प्रोत्साहन हो। पर्यावरण संरक्षण अधिनियम को जन-जन तक पहुंचाने का कार्य किया जाना चाहिए। सरकार को राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बनाने एवं क्रियान्वयन किया जाना चाहिए।

पर्यावरण संरक्षण में सतत विकास की भूमिका

वर्तमान समय में सतत विकास के द्वारा पर्यावरण संरक्षण इस प्रकार कर सकते हैं—

1. **प्रदूषण नियंत्रण**— प्रदूषण के कारणों को वैज्ञानिक तरीके से हल कर प्रदूषण निवारित किया जा सकता है। जैसे— व्यक्तिगत वाहन की जगह सार्वजनिक वाहन या साइकिल का प्रयोग करके वायु प्रदूषण कम किया जा सकता है।
2. **वन सुरक्षा**— कग से कग पेड़-पौधे काटे जायें और उतने ही पौधे बचिसे लगाये जायें। कागज या अन्य तरह के पेपर रिसाइकिल के रूप में उपयोग करने की जागरूकता फैलाकर कम से कम पौधे काटने की आवश्यकता होगी। साथ ही विभिन्न आन्दोलन द्वारा वन सुरक्षा भी की जा सकती है। जैसे— चिपको आंदोलन आदि।
3. **स्वनिज संसाधन**— स्वनिज सम्पदा सीमित है, इसकी जागरूकता हमें जन-जन तक लानी होगी और इसके उपयोग में बुद्धिमत्तापूर्वक एवं वैज्ञानिक ढंग से किये जाने पर जोर देना होगा। जैसे— कोयला, इसको आवश्यकतानुसार उपयोग लेकर इसे बुझाकर दोबारा से उपयोग लिया जा सकता है।
4. **ऊर्जा संरक्षण एवं वैकल्पिक स्रोत**— ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों का शोध किया जाना चाहिए ताकि हमें जितनी जरूरत हो उतना उत्पादन किया जा सके। जैसे— सौर ऊर्जा, वायु ऊर्जा आदि।
5. **आर्थिक विकास में शाश्वत विकास की संकल्पना**— आर्थिक विकास आज जरूरी है लेकिन उद्योगों से निकलने वाले कचरे या अदृश्य पदार्थों को हरे रीस नाले या नदी में न प्रवाहित करे। इसकी जगह वैज्ञानिक तरीके से उसे खानकर कम से कम प्रदूषण ही पानी में जाने दें। जहां तक हो सके किसी भी पदार्थ का ज्यादा से ज्यादा उपयोग में लिया जाये, इसे व्यर्थ न जाने दें।

उपर्युक्त बातों से शाश्वत विकास के माध्यम से पर्यावरण की सुरक्षा की जा सकती है।

यह मत रखो कि तुम्हारे लिए प्रकृति क्या कर सकती है अपितु अपने आपसे पूछो कि तुम प्रकृति के लिए क्या कर सकते हो? सतत विकास में लैंगिक समानता, अच्छा स्वास्थ्य, अधिक समानता और सामाजिक समानता के साथ-साथ पर्यावरण संतुलन भी निहित होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि

मानव का सही विकास तो सतत विकास के द्वारा ही हो सकता है। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा था— हमारे उद्योग मानव प्रधान होने चाहिए न कि मशीन प्रधान।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. रघुवंशी, अरूण, एच रघुवंशी, मन्द्रलेखा पर्यावरण तथा प्रदूषण मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल-4 संस्करण 1990, पृ. 322
2. रूहेल, एस.पी. विकासान्मुख भारतीय नन्दन में शिक्षक और शिक्षा, विनोद पुरतक मन्दिर आगरा-2, संस्करण 2008, पृ. 692
3. सिद्धान्त, आशांक सामाजिक पर्यावरण अध्यात्म शिक्षा प्रकाशन जबपुर, संस्करण 2006, पृ. 396
4. गुप्ता, चांदमल एच शर्मा रेणू : पर्यावरण शिक्षा जबपुर संस्करण 2007, पृ. 216
5. सिंह, शोपाल : पर्यावरण शिक्षा, आर्य बुक डेपॉ अलाहबाद नई दिल्ली संस्करण 1999, पृ. 288
6. गौयल, एस.के. : पर्यावरण शिक्षा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2, 2008, पृ. 467
7. सतत विकास पर निबन्ध— www.essay.in/hindi/2007/Essay+economic+sustainable+Development

□□□